ॐ श्री परमात्मने नमः

षष्ठ अध्याय

बहुत से विद्वानों ने माना है कि गीता के अठारह अध्यायों को तीन भाग में बांटा जा सकता है और हर भाग के छह अध्याय वैदिक महावाक्य तत् त्वम् असि के एक एक शब्द की व्याख्या करते हैं। प्रथम छह अध्याय त्वम् शब्द की व्याख्या करते हैं अर्थात् जीव का विवेचन करते हैं। अगले छह अध्याय तत् अर्थात् ब्रह्म का विवेचन करते हैं।

जीव और शिव के बीच वासना की जो परतें हैं वे निष्काम कर्म और संसार के प्रति वैराग्य द्वारा ही क्षीण की जा सकती है जिसका विस्तार भगवान तीसरे चौथे और पांचवें अध्याय में कर चुके हैं। वासना का कल्मष समाप्त हो जाने के बाद सभी कर्म अकर्म बन जाते हैं। 'मैं कर्ता हूं' या 'मैं भोक्ता हूं' यह भाव तो मिट जाता है लेकिन 'मैं जीव हूं' का भाव तो फिर भी रह ही जाता है। अहंकार का यह अत्यन्त झीना आवरण ध्यान योग के द्वारा हटाया जा सकता है और यह आवरण हटते ही जीव शिव से तद्रूप हो जाता है अतः जीव के सम्बन्ध में जब विवेचन किया जाए तो अंतिम अध्याय ध्यान योग ही होना स्वाभाविक है। इसके बाद तो 'मैं' रहा ही कहां? सब कुछ 'तू ही तू' रह जाता है। यह अध्याय हमें वे सब तरीके बताता है जिनके द्वारा हम अपनी तमाम दुर्बलताओं पर विजय पाकर गुणात्मक जीवन जी सकते हैं। इसी तकनीक का नाम ध्यान है जिसकी सलाह संसार के सभी धर्मों में, सभी संतों द्वारा दी गई है। इस अध्याय में हम पाएंगे कि ध्यान का अर्थ निश्चित समय पर निश्चित स्थान पर निश्चित मुद्रा में बैठ कर सांस रोकना नहीं है। ध्यान योग भी हमारी सम्पूर्ण जीवन पद्धति, समस्त दैनिक क्रियाकलापों से घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ है। आधे घंटे ध्यान लगाने के लिये दिन के साढ़े तेइस घंटों पर भी नजर रखना और उन्हें बुद्धिमानी के साथ जीना आवश्यक है।

पंचम अध्याय के अन्त में दो श्लोकों में भगवान ने छठे अध्याय के विषय का सूत्र रूप से संकेत दिया था, अब छठे अध्याय के प्रारंभ में वे सूत्र

के रूप में पुनः वह बात कह रहे हैं जो अब तक अर्जुन को समझा चुके हैं- वह यह कि अर्जुन तुम कर्म योग और संन्यास योग को भिन्न मत समझो। कर्म को त्याग कर संन्यास की परिकल्पना भी नहीं की जा सकती और संन्यास के बिना ध्यान योग नहीं साधा जा सकता।

श्री भगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ।।१।।

जो कर्म फल का आश्रय न लेते हुए करणीय कर्म करता है वही संन्यासी है वही योगी है। जो निरग्नि और क्रियाहीन है वह नहीं।

कर्म के अनुराग और कर्मफल के विराग का भगवान का आग्रह एक बार पुनः मुखर हो उठा है। कहीं भी किसी को जरा भी संशय नहीं रहना चाहिये। कर्म का त्याग किसी भी हालत में नहीं करना है। आपको संसार से कुछ पाने की इच्छा भी नहीं, आप साधु होना चाहते हैं, गृहस्थाश्रम को त्यागना चाहते हैं तब भी नहीं।

यहां भगवान ने निरग्नि और अक्रिय शब्द का प्रयोग किया है। अग्नि को त्यागने का अर्थ रसोई नहीं पकाना नहीं। हमारे शास्त्रों में गृहस्थ को अग्नि जलाकर हवन करने का निर्देश दिया गया है। व्यक्ति के संन्यास ले लेने पर उसे अग्निहोत्र नहीं करना पड़ता। अतः निरग्नि शब्द का तात्पर्य ऐसे व्यक्ति से है जो गृहस्थाश्रम को त्याग करने का इच्छुक है और 'सब छोड़-छाड़कर' साधु बनना चाहता है। भगवान ने एकदम साफ कहा है गृहस्थी और कर्म को छोड़-छाड़कर जाने वाला साधु, संन्यासी नहीं। संन्यासी तो वह है जिसने कर्म करते हुए फल की आसक्ति का त्याग किया है।

इसी प्रकार योगी के नाम से हमारे दिमाग में शरीर की समस्त क्रियाओं को त्यागकर आंखें बंद कर बिना हिले डुले पद्मासन में बैठे व्यक्ति का चित्र उभरता है। किन्तु बाहरी क्रियाओं को त्याग कर अक्रिय होकर बैठनेवाला हर व्यक्ति योगी ही हो यह जरूरी नहीं। बाहरी अक्रियता गौण है,

मुख्य बात तो योगी के लिये मन की अक्रियता और और बुद्धि की समता है। गीता में योग की परिभाषा 'समत्वं योग उच्यते' अर्थात् समत्व ही योग है कह कर दी गई है। यदि मन अपनी कामनाओं लालासाओं में भटकने का कार्य करता रहे तो वह समत्व में स्थिर नहीं हो सकता और ऐसा व्यक्ति पांच घंटे भी योग की मुद्रा में बैठ जाए तो भी योगी नहीं कहला सकता।

गीता के उपदेश की यही विशेषता है कि वह धर्म को दैनिक जीवन में प्रतिष्ठापित करती है। भगवान के उपदेशों से स्पष्ट होता है कि धर्म क्रिया प्रधन नहीं भावना प्रघान है। धर्म का पालन मात्र शरीर से नहीं बल्कि मन बुद्धि से किया जाता है। मंदिर जाकर घंटे घड़ियाल बजाना धर्मिक कृत्य नहीं बल्कि अपने कर्तव्य का पालन करना धर्म है। धर्म के पालन के लिए किसी भी बाहरी सुख, सुविधा, परिस्थिति उपकरण की जरूरत नहीं, अपने मन बुद्धि को परिष्कृत करने की जरूरत है। घर में पत्नी हो पर कामाग्नि का त्याग हो तो वह व्यक्ति संन्यासी है। बड़ा सा परिवार हो व्यवसाय हो और कर्म चलता रहे पर मन शांत और बुद्धि संतुलित हो तो वही योगी है।

संन्यास और योग भी दो भिन्न अवस्थाएं नहीं है, सुनने-समझने में अलग-अलग जान पड़ते हुए वस्तुतः एक ही है। भगवान कहते हैं-

यं संन्यासमिति प्रहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ।।२।।

हे अर्जुन, जिसे संन्यास कहते हैं उसी को तू योग जान क्योंकि संकल्पों का त्याग जिसने नहीं किया है ऐसा कोई भी पुरुष योगी नहीं हो सकता।

संन्यास का अर्थ है छोड़ना और योग का अर्थ है जोड़ना। दोनों शब्द परस्पर विरोधी जान पड़ते हैं किन्तु सूक्ष्म रूप से देखने पर हम समझेंगे कि दोनों वस्तुतः एक ही है। जब तक हम एक वस्तु को नहीं छोड़ेंगे तब तक दूसरी से कैसे जुड़ेंगे? साधारण सा काम है- अपने घर की छत पर जाना। जब तक कमरे को नहीं छोड़ेंगे छत से कैसे जुड़ेंगे? इसी प्रकार जब तक निकृष्ट जीवन और निम्न प्रवृत्तियों को नहीं छोड़ेंगे तब तक उच्च से कैसे

जुड़ेंगे? और जब तक उच्च से जुड़ेंगे नही, निम्न प्रवृतियां छूटेगी कैसे? जब बालक युवा होता है, उसे बड़ी-बड़ी बातों में रुचि होने लगती है और बचपन के छोटे-छोटे खेल-खिलौने, टाफियां अपने आप छूट जाती हैं। एक दिन वह अपने कार्ड की कटिंग इत्यादि का 'धन' अपने छोटे भाई को सौंप देता है और छोटे भाई की आंखें आश्चर्य से फटी की फटी रह जाती है-'भैया से यह सब छूटा कैसे?' उच्च से योग और निम्न से संन्यास साथ साथ होता है इसीलिए भगवान कहते हैं कि संन्यासी और योगी एक ही है।

भगवान यह भी कह रहे हैं कि जिसने संकल्पों का त्याग नहीं किया वह योगी हो भी कैसे सकता है। संकल्प किसे कहते हैं यह जरा समझ भी लें। यह मन का एक खेल है जिसमें वह विभिन्न कल्पनाओं में हमें उलझा देता है। जैसे बाजार जाने में शो केस में लगी कोई साड़ी मेरे मन को भा गई तो यह खेल शुरू हो जाता है। मैं कल्पना करने लगती हूं कि यह साड़ी मुझपर कितनी खिलेगी, मैं कितनी सुन्दर लगूंगी। इच्छा जागती है और फिर धीरे-धीरे तीव्र लालसा का रूप ले लेती है। कुछ देर बाद लगने लगता है कि वह साड़ी लेना तो बहुत ही जरूरी है। और थोड़ी देर बाद उस साड़ी के बिना जीवन ही अधूरा लगने लगता है। किसी प्रकार घर में लड़ झगड़ कर भी मैं वह साड़ी ले ही आती हूं। घर आने के बाद तुरंत पैकेट खोल साड़ी को लगा शीशे में देखने से लगता है-खास जंच नहीं रही। यही डिजाइन दूसरे कपड़े में होती तो ज्यादा अच्छी लगती। और थोड़ी देर बाद लगेगा- बेकार ही साड़ी ली। इतने रुपये में अच्छा बेडकवर आ जाता। पुराने तो सब घिस चुके हैं। बेडकवर की जरूरत भी है। और अब बेडकवर की आवश्यकता बेचैन करने लगी। यही है संकल्प।

मन अपनी कल्पना के द्वारा पहले तो एक लक्ष्य निर्धारित करता है। फिर उस लक्ष्य को पाने की योजनाएं बनाता है और जब तक ये योजनाएं साकार होने लगती है तब तक उस लक्ष्य की व्यर्थता का भान करा कर मन हमारे भविष्य के लिए दूसरा लक्ष्य निर्धारित कर लेता है। इसी जंजाल को संकल्प कहते हैं। किसी भी क्षेत्र में सफलता पाने के लिए संकल्पों पर विजय पाना अति आवश्यक है वर्ना हम कभी भी कहीं भी नहीं पहुंच पाएंगे।

आत्म ज्ञान के लिए प्रयत्न करने वाले योगी को तो मन के संकल्पों

से छुटकारा पाना ही होगा। यही संन्यास है, इसे ही अकर्म कहते हैं, इसे ही निवृत्ति कहते हैं। लेकिन इस अकर्म, सन्यास, वैराग्य, अथवा निवृत्ति को पाने का साधन क्या है? भगवान कहते हैं:-

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ।।३।।

जो योगारूढ़ होना चाहते हैं उनके लिए कर्म ही साधन है तथा उस अवस्था को प्राप्त कर लेने के बाद अकर्म ही साधन है।

प्रस्तुत श्लोक में भगवान ने संन्यास तथा कर्मयोग अर्थात् अकर्म और कर्म का परस्पर संबंध बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है। निवृत्ति और प्रवृत्ति, वैराग्य और कर्म ये दोनों दो भिन्न मार्ग नहीं हैं बल्कि एक दूसरे से घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए हैं। अकर्म और निवृत्ति का सही मार्ग कर्म से ही होकर जाता है। जो परम पद पाना चाहते हैं, योगारूढ़ होना चाहते हैं उनके लिए साधन कर्म ही है न कि संसार का बाहरी त्याग।

संसार में हमें लगने वाली है हमारी वासनाएं। वासना ही बुद्धि को उकसाती है, मन में चंचलता पैदा करती है, तदनन्तर इन्द्रियों से काम करवाती है। इस प्रकार तीनों गतिविधियों का कारण वासना ही है। परमात्मा को पाने (योगारूढ़ होने) के लिए इसी वासना के पर्दे को चीर कर हमें फेंकना होगा पर इस काम के लिए शरीर, मन, बुद्धि के अलावा कोई चौथा उपकरण तो हमारे पास है नहीं। हमारी 'स्मार्टनेस' इसी में है कि दुश्मन की ही तोप की दिशा ऐसी बदलें कि वह नष्ट हो जाए। हमारे शरीर, मन, बुद्धि की कार्य प्रणाली, सोच-विचार की दिशा को बदल कर ऐसा कुछ करें कि वासना का दबाव कम हो। यह ट्रिक भगवान हमें सिखाते आ रहे हैं कि यदि हम स्वार्थ तथा फल की आसक्ति को त्याग कर कर्म करें तो वासना कम होती है। इस प्रकार कर्म का आधार वासना होते हुए भी कर्म द्वारा ही वासनाओं पर विजय पाई जा सकती है।

इस बात को यहां घुड़सवार के रूपक से समझाया गया है। अर्जुन क्षत्रिय था, युद्ध के घोड़े पर आरूढ़ होने कि क्रिया से भलीभांति परिचित था

अत: उसे बहुत आसानी से समझ में भी आता। युद्ध के हृष्ट-पुष्ट घोड़े एक स्थान पर शांत खड़े नहीं होते। उन पर काबू पाना और सवार होना बहुत परिश्रम का काम है। विशेष कर उस वक्त जब सवार का एक पैर रकाब में हो और वह घोड़े की काठी पकड़ कर झूल रहा हो। इस समय घोड़ा सबसे ज्यादा अस्थिर होता है और मनमानी दिशा में जाने का प्रयत्न करता है। योग्य सवार ऐसे समय बहुत जोर लगाकर दूसरे पैर को जमीन से उछाल कर घोड़े की पीठ के दूसरी और ले जाता है। एक बार जहां वह सवार हो गया, फिर उसे परिश्रम की आवश्यकता नहीं होती। वह घोड़े को दुलारता, सहलाता हुआ आराम से बैठ जाता है और अपनी कुशलता के द्वारा उसे मनमाने ढंग से चलाता है। सबसे कठिन घड़ी होती है जब सवार न पूरा घोड़े पर होता है न जमीन पर।

इसी प्रकार मन रूपी अश्व पर जो सवार होना चाहता है, उसे नियंत्रित करना चाहता है उसे इस कठिन घड़ी में कठिन कर्म करना होगा। अभी तक वह जिस प्रकार संसार में संघर्ष कर रहा है उसकी 'स्टाइल' बदलनी होगी, उसी कर्म को निस्वार्थ भाव से, कर्त्ता-भोक्ता के अहंकार को त्यागते हुए करना होगा। तब मन रूपी अश्व नियंत्रित होगा। तभी उसे योगारूढ़ कहा जाएगा। तब साधना का एक चरण पूरा होगा। इसके बाद अगला चरण है कर्म में अपनी लिप्तता को कम करते जाना। अर्थात् पहले फलासक्ति को छोड़कर खूब कर्म करना सीखें फिर कर्मासक्ति को भी छोड़ने का अभ्यास करें तब कोई कर्म हमें बांध नहीं पाएगा और हम अपने आत्मस्वरूप के अन्वेषण की दिशा में स्वच्छन्दता से आगे बढ़ सकेंगे।

योगारूढ़ व्यक्ति की पहचान बताते हुए भगवान कहते हैं:-

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ।।४।।

जो इन्द्रिय और कर्मों में अणुमात्र भी लिप्त नहीं है, जिसने संकल्पों को त्याग दिया है उसे ही योगारूढ़ कहते हैं।

भगवान ने पहले ही कहा है कि जो साधक (आरुरुक्ष) हैं उसे कर्म

करना ही होगा तभी वह मन पर नियंत्रण पा सकता है। इस अवस्था तक पहुंचने को योगारूढ़ होना कहते हैं। तत्पश्चात् हमें कर्मों का त्याग करना होगा। अतः योगारूढ़ अवस्था को अच्छी तरह पहचानना बहुत जरूरी है। उस अवस्था में पहुंचने के पहले यदि हमने कर्मों को त्याग दिया तो साधना होगी ही नहीं और मन की उस अवस्था को प्राप्त करने के बाद भी उसे बाहरी खट पट में ही लगाए रखेंगे तो आत्मचिंतन कैसे होगा? इसलिए ध्यान के पहले योगारूढ़ की स्थिति को पहचानें।

भगवान कहते हैं कि जब मनुष्य का मन सांसारिक भोगों तथा तथा कर्मों में अणुमात्र के लिए भी न भटके तब उसे योगारूढ़ समझना चाहिए। इसका अभिप्राय यह नहीं कि संसार के कर्मों से बिल्कुल ही अलग हो जाए। आशय यह है कि जब वह ईश्वर चिंतन के लिए ध्यान के आसन पर बैठे तब उसके मन में संसारिक भोगों और कर्मों का विचार न उठे क्योंकि उनका मोह ही विचार उत्पन्न करता है। यदि लेश मात्र भी आसक्ति रही तो मन एकाग्र नहीं हो पाएगा। अतः यहां 'अनु' शब्द का प्रयोग किया गया है।

जब सांसारिक भोगों और कर्मों से अपने को हटाकर साधक ध्यान में रत रहना चाहता है तो एक और बाधा उत्पन्न होती है- संकल्प। उसकी सुप्त कामनाएं और उन्हें पूरा करने की योजनाएं उसे अस्त-व्यस्त कर देती हैं। हम न तो संसार की वस्तुओं को पूरी तरह त्याग सकते हैं, न कर्मों को त्याग कर जीना संभव है, इनके त्याग का अर्थ तो इनमें लिप्तता का अभाव है। इसी प्रकार संकल्प के त्याग का अर्थ यह नहीं कि बिना योजना के कार्य करें, बिना नक्शा बनाए घर बनाने की कोशिश करें। अभिप्राय तो यह है कि उन संकल्पों में भी हमारा लेप न हो। लोग थके हुए होते हैं, थोड़ी देर नींद ले लेना चाहते हैं ताकि फिर से तरोताजा होकर काम में लग सकें। कर्मों को त्याग कर बिस्तर पर लेट तो गए पर संकल्प कम्बख्त पिंड ही नहीं छोड़ते। कल अमुक काम को इस तरह करना है... यह समस्या ऐसे सुलझाई जा सकती है... तब जो इतने दिन का फंसा पेमेंट मिल जाएगा तो उसे अमुक काम में लगाया जा सकता है आदि विचार हम पर ऐसे हावी होते हैं कि हम क्षण मात्र भी आराम नहीं कर पाते। जो व्यक्ति चाहकर नींद ही नहीं ले सकता वह ध्यान क्या करेगा? अतः आवश्यकता इस बात की है कि कर्मों का त्याग करने के बाद मन को शांत रखा जाए, उसे प्रभु के नाम स्मरण

तथा आत्म चिंतन में एकाग्र किया जाए। योगारूढ़ होने के बाद 'शमः कारण मुच्यते' से भगवान का अभिप्रायः यही है। प्रारम्भिक साधकों के लिए इस श्लोक का संदेश बहुत महत्वपूर्ण है। आजकल 'ध्यान' का प्रचलन बढ़ रहा है और बहुत लोग इससे आकर्षित हो रहे हैं लेकिन सबकी शिकायत रहती है कि ध्यान लगता ही नहीं। बहुत से विचार न जाने कहां-कहां से आकर घुमड़ने लगते हैं। हमें समझना चाहिए कि विचार घुमड़ रहे हैं तो इसके लिए निष्काम निस्वार्थ कर्म की साधना करनी होगी। इसके पहले ध्यान में बैठने का महत्व एक ही है- हम समझ जाएं कि हम 'योगारूढ़' नहीं आरुरुक्ष हैं। हमें पहले मन को ध्यान के लायक बनाने का प्रयत्न करना है।

मन पर विजय पाने और वैराग्य सहित शम में स्थित होने और ध्यान लगाने का विचार बहुत आकर्षक लगता है, अर्जुन भी बहुत उत्सुक हो उठा होगा इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए। किन्तु जो व्यक्ति अभी पूर्णतः जीव भाव के स्तर पर है, वह एकाएक इस ओर कदम बढ़ाने साहस नहीं कर पाता। वह सहारा खोजता है किसी का जो उसे इस स्थिति तक पहुंचा दे। हमें जब महात्मा जन उपदेश देते हैं तो हम उनसे आशीर्वाद मांगने लगते हैं, यह अपेक्षा करने लगते हैं कि वे ही हमारा उद्धार कर दें।

अर्जुन की आंखों में भी भगवान ने कुछ ऐसा ही भाव देखा होगा इसलिए कहते हैं:-

उद्धरेदात्मनाऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ।।५।।

(मनुष्य) अपना उद्धार आप करे। अपने आप को नीचे न गिरने दे क्योंकि वह स्वयं ही अपना मित्र है और स्वयं ही अपना शत्रु।

मनुष्य अपने आप को क्षुद्र जीव समझता है और हीन भावना से ग्रस्त होकर दूसरों का सहारा ढूंढ़ता है। अध्यात्म के क्षेत्र में तो विशेषकर लोग गुरु पर बहुत अधिक आश्रित रहते हैं। गुरु की कृपा से, गुरु के जूठे प्रसाद से सारे दुखों का अन्त हो जाएगा। गुरु द्वारा मंत्र दीक्षा से हमारा उद्धार हो जाएगा, विभूति लगाने से हमारा कल्याण हो जाएगा, यह सब सोचकर हम

इन्हीं जंजालों में भटकते रह जाते हैं और हमें जो करना चाहिए वह करते नहीं। यदि इस प्रकार गुरु के प्रसाद का पैकेट हमें सिद्धि दे सकता तो भगवान् श्रीकृष्ण ने ध्यान योग, भक्ति योग, कर्म योग के साथ इस पैकेट योग की भी चर्चा अवश्य की होती किन्तु भगवान तो स्पष्ट कहते हैं कि तुम स्वयं ही अपने आप को ऊपर उठा सकते हो।

एक महात्मा ने अपनी गुफा के सामने एक बड़ा सा पत्थर रख रखा था और गुफा के पीछे पत्थरों को जोड़-जोड़कर एक सुन्दर कुटिया बना रखी थी। जब कभी कोई गृहस्थ उनके पास आकर कहता- 'महात्मा जी मुझे आशीर्वाद दीजिए, आपकी कृपा से ही मेरे दुख दूर हो सकते हैं,' तब वे उसे वह पत्थर दिखाते थे 'देखो, इस पत्थर को मैं रोज दिन में तीन बार आशीर्वाद देता हूं फिर भी यह जैसे का तैसा है' और फिर पीछे की कुटिया दिखाकर कहते- 'इन पत्थरों के साथ परिश्रम का संयोग हुआ, जिसके फल स्वरूप इतनी सुन्दर कुटिया बन सकी।'

अत: हमें अपने आप पर, अपनी मानसिक शक्ति पर तथा अपनी साधना पर निर्भर करना चाहिए। 'अपना उद्धार स्वयं करना है' यही एक मात्र रास्ता है। कोई गुरु हमारे मोक्ष की जिम्मेदारी नहीं ले सकते, कोई ग्रंथ मुक्ति नहीं दिला सकता, कोई देवमूर्ति हमारा उद्धार नहीं कर सकती। गुरु कृपा, ईश्वर कृपा का अपना महत्व है पर वास्तविक उद्धार तो हमारे अपने प्रयत्न से ही आरम्भ होगा। बहुत बार ऐसा होता है कि हम सत्संग तथा संत कृपा की महिमा इतनी सुन लेते हैं कि भूल जाते हैं कि इनका लाभ पाने के लिए हमें साधना करनी होगी। हम समझने लगते हैं कि कथा में जाने से ही हमारा उद्धार हो जाएगा। यह भ्रांति हमें साधना के प्रति उदासीन कर देती है जिसके कारण सत्संग और संत सेवा करते हुए भी हम जस के तस रह जाते हैं। हमें तो अपने चित्त की अच्छाई-बुराई को पहचानना होगा। गुरु के निर्देशों तथा ग्रंथों के अध्ययन द्वारा विवेक पैदा करना होगा, प्रभु भक्ति द्वारा मन को निर्मल बनाना होगा, नि:स्वार्थ सेवा भाव से कर्म कर वासना के दबाव और संकल्पों से मुक्ति पानी होगी, फिर इस शांत, सजग, निर्मल चित्त को एकाग्र कर ध्यान में अवस्थित करना होगा। यह उद्धार की प्रक्रिया है और इसके साथ एक ही सांस में भगवान् कहते हैं- नात्मानम् अवसादयेत् अर्थात् जिन निम्न प्रवृतियों से हमने अपने चित्त को मुक्त किया है उनके प्रति सजग रहें।

बराबर ध्यान रखना होगा कि चंचल मन फिसल न जाये।

दूसरी पंक्ति में भगवान कहते हैं कि हम स्वयं ही अपने शत्रु हैं और स्वयं ही अपने मित्र। हमारा ही मन कैसे हमारा शत्रु बन जता है और कैसे हमारा मित्र, यह भगवान अगले श्लोक में बताते हैं–

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ।।६।।

जिसने आत्मा को आत्मा से जीत लिया है, उसके लिए आत्मा मित्र है तथा अविजित आत्मा ही आत्मा के लिए शत्रुवत् होती है।

यहां आत्मा शब्द का बारबार प्रयोग किया गया है। इसका अर्थ संदर्भ के अनुसार समझा जाना चाहिए। आत्मा शब्द कहीं तो अहं भाव के लिए प्रयुक्त हुआ है, कहीं मन, कहीं बुद्धि तथा कहीं अचल, अविनाशी, साक्षी चैतन्य परमात्म अंश के लिए।

मनुष्य के तीन उपकरण शरीर, मन, बुद्धि उसे भांति–भांति से विवश करते रहते हैं। इस का तात्पर्य यह है कि जिसका मन उसकी दृढ़ बुद्धि विवेक के नियंत्रण में है, उसके लिए तो मन बन्धुवत् है अर्थात् उसकी उन्नति और उद्धार में सहायक है, किन्तु जिसके मन पर बुद्धि का अंकुश नहीं, उसका मन उसके लिए शत्रुवत् अर्थात् पतन का कारण बन जाता है।

हमारा मन हमारा मित्र है, यह तो स्पष्ट समझ में आता है, किन्तु हमारा मन हमारा ही शत्रु कैसे हो सकता है, बात कुछ समझ में नहीं आती। किन्तु हम अपने पिछले जीवन में झांक कर देखें तो हम पाएंगे कि कितनी बार हम स्वयं ही अपने दु:ख का कारण होते हैं। हालांकि इस बात को हम किसी के सामने स्वीकार नहीं करते, स्वयं को भांति–भांति से धोखा देते हैं कि उस वक्त ऐसी परिस्थिति हो गई थी कि मुझे करना पड़ा, कोई चारा नहीं रह गया था, आदि आदि। किन्तु वास्तविकता यही होती है कि हम अपने मन के हाथों विवश होते हैं।

शरीर तो वह उपकरण है जिसके द्वारा बुद्धि अपनी परिकल्पनाओं,

योजनाओं, आदर्शों आदि को मूर्त्त रूप देती हैं तथा कार्यान्वित करती है। मन तो शरीर और बुद्धि के बीच मुनीम का काम करता है। वही कान, नाक, आंख, जीभ, त्वचा द्वारा ग्रहण की गई संवेदनाओं का मिला-जुला प्रभाव बुद्धि के सामने रखता है। अब क्या करना चाहिए, यह निर्णय लेना बुद्धि का काम है। मन फिर मध्यस्थ की भूमिका निभाता है और बुद्धि का निर्णय इन्द्रियों तक पहुचाता है। जब तक मन बुद्धि के अनुशासन में रहता है, तब तक यह दफ्तर सुचारु रूप से चलता रहता है। शरीर को बाध्य हो कर बुद्धि की आज्ञा का पालन करना पड़ता है।

लेकिन मन बुद्धि का संबंध कभी-कभी टूट जाता है। पति-पत्नी की सामान्य कथा की भांति यहां भी 'वह' होती है और 'वह' है- कामना और लालसा। इसी के पीछे पागल हो मन बुद्धि को तलाक दे कर शरीर से विवाह करता है। दोनों पागल होकर नाचते हैं और बुद्धि कुछ नहीं कर पाती। किन्तु यह नाच जल्दी ही मनुष्य को थका देता है। वह शिथिल हो जाता है और भोग-विलास से ऊब जाता है। कभी तो यह नाच ऐसी विपत्तियों में फंसा देता है जिसे शरीर और मन मिलकर सुलझा नहीं पाते। तब वह शरीर को त्याग कर वापस बुद्धि की ओर उन्मुख होता है। बुद्धि जो अब तक मूक द्रष्टा बन कर ताण्डव देख रही थी, अब मन की प्रतारणा आरम्भ कर देती है-'क्यों? कैसा लगा? आ गए न वापस? जानते थे, यह गलत है, पर माने नहीं न, अब चखो मजा!'

काम, क्रोध, लोभ, मोह के वशीभूत होकर जब भी हम गलत मार्ग पर चलते हैं, तब हमें दुखों और कष्टों का सामना करना पड़ता है, तब हमारा विवेक स्वयं हमारी प्रतारणा करने लगता है। हम स्वयं अपनी नजरों में गिर जाते हैं। ऐसे ही कर्मों को पाप कहते हैं अब हमारे पास पछतावे के सिवा और कुछ नहीं बचता। तब हम सोचते हैं-उफ्! यह क्या कर डाला मैंने! सचमुच, मैं पागल हो गया था उस वक्त। इन्हीं क्षणों में हमें यह समझना है कि हमारा मन जब बुद्धि का साथ छोड़ देता है, तो हमारा ही शत्रु हो जाता है।

मन को तो सदा बुद्धि का अनुगामी या सहयोगी बनकर रहना चाहिए। बुद्धि और मन में वही संबंध होना चाहिए जो मुरली वादक और

मुरली में होता है। मुरली स्वयं तो खोखली है, कुछ कर नहीं पाती, इसलिए वादक को समर्पित हो जाती है। वादक भी कितना ही कुशल क्यों न हो, जब तक मुरली उसके हाथ में न हो, वह अपनी कला को अभिव्यक्त नहीं कर पाता। दोनों के मिलने पर ही मधुर संगीत का सृजन होता है। मन भी जब बुद्धि का बंधु होता है तभी व्यक्ति के कार्य उत्तम होते हैं। ऐसे 'योगारूढ़' व्यक्ति का विवरण देते हुए भगवान कहते हैं-

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ।।७।।

जिसने अपने ऊपर विजय पा ली है, वह सदा शांत रहता है तथा शीत, उष्ण, सुख-दुख, मान-अपमान में समभाव रखता है। ऐसे व्यक्ति के लिए परमात्मा अच्छी तरह प्राप्त है।

प्रस्तुत श्लोक में वेदव्यास जी के चिर परिचित शब्द- शीत-उष्ण, सुख-दुख, मान-अपमान एक बार फिर उभरे हैं। गीता में जो शब्द बार-बार प्रयुक्त हुए हैं, उनमें पहला है-'युद्धस्व' अर्थात् कर्म और संघर्ष का संदेश। दूसरे नम्बर पर सम्भवतः ये तीनों शब्द आते हैं अर्थात् शारीरिक (शीत, उष्ण) मानसिक (सुख-दुख) और बौद्धिक (मान-अपमान) तीनों स्तर की अनुकूलता और प्रतिकूलता में समत्व रखना। समत्व के साथ सांसारिक उपलब्धियों के लिए बाह्य जगत में युद्ध करें या आध्यात्मिक उपलब्धियों के लिए अन्तर्जगत में संघर्ष करें, सफलता सुनिश्चित है। यह सफलता अन्य उपलब्धियों की भांति क्षणिक भी नहीं होगी, यह हमें चिर शांति और स्थायी आनन्द का बोध कराएगी, यही दिव्य संदेश गीता हमें बार-बार दे रही है। बार-बार एक बात को कहने से हमें समझ लेना चाहिए कि भगवान श्रीकृष्ण का इसके प्रति कितना ज्यादा आग्रह है, स्थित प्रज्ञता की बात कहें या कर्म योग की अथवा ध्यान योग की, भगवान घूम-फिर कर इस बात पर अवश्य आते हैं। यहां भगवान का अभिप्राय यह है कि ध्यानाभ्यास करने वाले की एकाग्रता इन स्तरों पर भंग होती है।

ध्यान करते समय हमें कुछ शारीरिक असुविधा या कष्ट हो सकता है। कभी मौसम ठंडा होगा, कभी गर्म। यहां शीत उष्ण का अभिप्राय केवल मौसम नहीं, शरीर की प्रत्येक अनुकूलता-प्रतिकूलता है। तात्पर्य यह है कि भौतिक स्थिति कुछ भी हो, साधक शांत और दृढ़ रहे, वह विचलित न हो। एयर कंडीशन्ड कमरे में मुलायम गद्दे पर ही बैठ कर ध्यान करना चाहने वाले से ध्यान योग सध ही नहीं सकता।

इसी प्रकार सुख-दुख का तात्पर्य मन की प्रत्येक अवस्था- घृणा, प्रेम, ईर्ष्या, स्नेह, दया, निष्ठुरता सभी है। भगवान के अनुसार ध्यान की एकाग्रता से विचलित होने के लिए किसी भी बहाने को स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार मान-अपमान शब्द का प्रयोग कर भगवान यही कहना चाहते हैं कि बौद्धिक स्तर पर भी परिस्थितियां कुछ भी हों, साधक की एकाग्रता भंग नहीं होनी चाहिए।

जो हर अवस्था में अविचल रह सकता है, ऐसे व्यक्ति का ध्यान सहजता से लग सकता है, उसे सत्य स्वरूप का ज्ञान प्राप्त होने में कोई मुश्किल नहीं होगी। इस प्रकार जिसके लिए परमात्मा समाहित है, अर्थात् जिसे परमात्मा की प्राप्ति सहज ही हो सकती है उसे गीता योगी कहकर पुकारती है। अगले श्लोक में भगवान ऐसे सिद्ध योगी के लक्षण बताते हैं:-

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥८॥

ज्ञान विज्ञान से तृप्त अन्तःकरण वाला, विकार रहित, इन्द्रियों को अच्छी तरह से जीत लेने वाला (और इसके फलस्वरूप) मिट्टी, पत्थर तथा सुवर्ण को समान दृष्टि देखने वाला योगी युक्त (सिद्धावस्था को पहुंचा हुआ) कहा जा सकता है।

यहां भगवान योगी की सही कसौटी प्रस्तुत कर रहे हैं और यह बताते हैं कि सांसारिक वस्तुओं के प्रति उसका व्यवहार, उसकी मनोभावनाएं कैसी होती है। इसमें चार लक्षण बताए गए हैं:-

ज्ञान विज्ञान तृप्तात्मा : वह ज्ञान और विज्ञान दोनों से तृप्त है। पहले भी स्पष्ट किया जा चुका है कि विज्ञान का अर्थ संस्कृत में साइंस नहीं वरन् विशेष ज्ञान है जो प्रत्यक्ष अनुभूति के द्वारा जाना जा सकता है। सांसारिक ज्ञान भी बहुधा प्रत्यक्ष अनुभूति के बिना अधूरा ही रहता है, आध्यात्मिक का तो कहना ही क्या।

उदाहरण के लिए रमेश एक जन्मांध दरिद्र को बताने लगा कि खीर बहुत स्वादिष्ट होती है। अंधे ने पूछा-'खीर क्या होती है?' रमेश ने कहा- 'वही जो चावल और दूध से बनती है।' अंधे ने कहा- 'चावल तो मैं खाता हूं पर दूध क्या होता है?' रमेश बोला- 'दूध वही जो पानी जैसा, पर सफेद होता है।' अंधा पानी तो समझता था पर सफेद रंग नहीं जानता था, रमेश उसे समझाने लगा कि सफेद रंग बगुले के जैसा होता है। अब समस्या यह आई कि बगुला कैसा होता है? रमेश ने भी ठान ली कि उसे अच्छी तरह समझाएगा। उसने हथेली और उंगलियों को मोड़ कर बगुले का आकार बनाया और अंधे को हाथ फिराने को कहा। अंधे ने हाथ फिरा कर कहा, हां, अब मैं सब कुछ समझ गया, पर एक बात समझ में नहीं आई कि इतनी टेढ़ी-मेढ़ी चीज तुम कैसे खाते हो?

अंधे की बात तो जाने दीजिए। तीन कटोरी में तीन साफेद तरल पदार्थ रखे हुए हैं, उनमें दूध कौन सा है यह ठीक-ठीक वही बता सकता है जिसने दूध का स्वाद चखा है। इसी प्रकार आत्मा की अजरता, अमरता, आनंद स्वरूपता केवल पढ़कर या सुनकर नहीं जानी जा सकती। खीर का स्वाद बढ़िया है यह जान लेने से कोई तृप्त नहीं हो जाता, उससे तो ललक ही बढ़ती है। तृप्ति तो उसके स्वाद की प्रत्यक्ष अनुभूति से होती है। भगवान यही कहना चाहते हैं कि सिद्ध योगी ज्ञान और विज्ञान दोनों के कारण तृप्ति का अनुभव करता है।

कूटस्थ : कूटस्थ लुहार के उस लोहे को कहते हैं जिसके ऊपर वह गर्म लोहा रखता है और उसे पीटता है। गर्म लोहे का आकार बदल जाता है लेकिन कूटस्थ वैसा का वैसा बना रहता है। हम साधारण संसारी व्यक्तियों कि मनोदशा बाहरी परिस्थितियों के अनुसार बदलती रहती है। जो भूखा होगा उसे ही लड्डू, रसगुल्ले लुभाएंगे लेकिन जो तृप्त है उसके सामने कुछ भी

हो वह निर्विकार ही रहता है। बड़े से बड़े दुःख में योगी अपनी स्थिति से विचलित नहीं होता।

विजितेन्द्रिय : तृप्ति के अभाव और वस्तुओं के प्रति ललक का कारण हमारी इन्द्रियों की भोग लिप्सा ही होती है। किन्तु योगी की इन्द्रियां पूरी तरह उसके वश में होती है, वह इन्द्रियों के वश में नहीं होता।

समलोष्टाश्मकांचन : योगी के लिए स्वर्ण और मिट्टी समान हैं। वास्तव में किसी भी वस्तु को कीमती या सस्ता बनाने वाला मन है। अलग-अलग देश, जाति और कबीलों में अलग-अलग चीज को कीमती माना जाता है। अफ्रीका के एक कबीले में प्रेमिका को दी जाने वाली सबसे अनमोल वस्तु समझी जाती है जंगली कुत्तों के दांतों का हार। वैसा हार यदि हमारे देश का कोई व्यक्ति अपनी पत्नी को उपहार में देकर खुश करना चाहे तो पत्नी उसके साथ क्या सलूक करेगी यह आप समझ ही सकते हैं। योगी को तो किसी चीज की लालसा नहीं, उसके लिए तो संसार स्वप्नवत् अर्थात् मिथ्या है। स्वप्न में हमें एक करोड़ का चेक मिले या पांच रुपये का, नींद खुलने पर हमें क्या फर्क पड़ने वाला है? उसी प्रकार योगी के सामने कोई पत्थर आए या स्वर्ण की मोहर, उसका चित्त चंचल नहीं होता।

सांसारिक वस्तुओं और परिस्थितियों के प्रति योगी का व्यवहार कैसा होता है यह बताने के बाद अब भगवान बताते हैं कि दूसरे व्यक्तियों के प्रति योगी का व्यवहार कैसा होता है।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥९॥

सुहृद्, मित्र, शत्रु, मध्यस्थ, द्वेषी, बन्धुओं तथा धर्मात्मा और पापियों में भी जो समभाव रखने वाला है वह अतिश्रेष्ठ है।

संसार की वस्तु और प्रकृति की विभिन्न परिस्थितियों में समभाव रखना तो अपेक्षाकृत सरल है क्योंकि कमसे कम वे प्रतिक्रिया (रियेक्ट) नहीं करते। लेकिन चेतन प्राणी, पशु और सबसे अधिक मनुष्य तो 'रियेक्ट'

करते हैं। इनके बीच समभाव रखना और भी मुश्किल है अत: इस श्लोक में विशिष्यते अर्थात् अतिश्रेष्ठ शब्द का व्यवहार किया गया है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि भगवान द्वारा वर्णित योगी (या संन्यासी) हिमालय की गुफा में नहीं बल्कि इसी संसार के लोगों के बीच रहता है जहां कोई उसका शुभचिंतक है, कोई प्रिय मित्र है, कोई उसके और किसी दूसरे के संबंध के बीच मध्यस्थता करता है, कोई उसकी परवाह भी नहीं करता तो कोई द्वेष करता है। कोई बहुत भला है, कोई पापी। उसे इन्हीं के बीच रह कर सबके साथ समान व्यवहार करना है।

यहां समान व्यवहार का अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि वह प्रतिदिन सुबह एक घंटा जुआरियों के साथ बिताए। समानता का अर्थ यह होगा कि सबके लिए उसके हृदय में प्रेम है। पापी को वह बुरा नहीं, अज्ञानी मात्र समझता है अत: उसके लिए भी उसके मन में करुणा की भावना होती है। यदि एक साधु और एक पापी उसे घायल अवस्था में मिलें और पापी को तत्काल उपचार की आवश्यकता अधिक है, तो वह पहले उसी को देखेगा। पापी मान उसे घृणा करते हुए मुंह नहीं फेर लेगा। जैसे हमारे शरीर के विभिन्न अंग हैं- हाथ, पैर, मुंह आदि। इनके प्रति समबुद्धि रखने अर्थ यह नहीं कि हम एक घंटा पैर के बल चलें और एक घंटा हाथ के बल। तात्पर्य तो यह है कि हमें अपने हाथ, पैर आदि की सुरक्षा के लिए, तकलीफ होने पर उपचार के लिए जो करना है उसमें भेदभाव नहीं होता क्योंकि हम मानते हैं कि ये सब हमारे अपने ही अंग हैं।

योगी व्यक्ति भी यह मानता है कि सारा संसार आत्मस्वरूप ही है। सबमें एक ही आत्मा को मानना ज्ञानी की दृष्टि है और सबको भगवान का समझना भक्त की दृष्टि। योगी दोनों हो सकते हैं। दोनों ही दृष्टिकोण उसे राग-द्वेष, भेद-भाव से मुक्त कर देंगे।

कभी-कभी साधक जब अकेला रहता है, संसार के विषयों में उसका मन नहीं भागता तो वह समझता है कि उसकी साधना सफल हो रही है। पर जब उसे दूसरे के साथ मिल कर काम करने का मौका मिलता है तब पता चलता है कि उसमें कितनी कमियां और कितने दोष अब भी हैं। किसी की चरित्रगत कमजोरी पर उसे क्रोध आता है, किसी के अनाचार से

वह आहत होता है, किसी के द्वारा अपमान कर दिए जाने पर वह अत्यन्त विचलित हो उठता है। इन सब घटनाओं को कसौटी के रूप में मान वह अपने आप को परखे और इनसे ऊपर उठने का प्रयास करे तभी वह श्रेष्ठ योगी बनेगा।

इस प्रकार भगवान ने ज्ञान योग नामक छठे अध्याय में सर्वप्रथम योगी और संन्यासी को एक ही बताते हुए समझाया कि संसारिक इच्छाओं तथा कर्मफलों से विराग के बिना ईश्वर से अनुराग नहीं हो सकता तथा जो यह अनुराग चाहता है उसे सर्वप्रथम निष्काम कर्म के द्वारा योगारूढ़ होना होगा और फिर अनासक्ति और वैराग्य का अभ्यास करना होगा। यह सब उसे स्वयं अपने प्रयत्न से ही पाना होगा। कोई बाहरी शक्ति उसका उद्धार नहीं कर सकती। ऐसे योगी का गौरव गान करते हुए भगवान ने बताया कि वह हर भौतिक, मानसिक, बौद्धिक परिस्थिति में सम रहता है। सभी संसारिक वस्तुओं प्राणियों के प्रति उसका व्यवहार भेदभाव रहित होता है। सिद्ध की अवस्था बताकर लक्ष्य तो हमारे सामने प्रस्तुत कर दिया, अब राह भी बताएंगे।

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ।१०।।

जिसने अपने शरीर, मन, बुद्धि पर नियंत्रण कर लिया है (यतचित्तात्मा), जो आशा से मुक्त है, जो संग्रह रहित है ऐसा योगी एकांत स्थल में अपने चित्त को निरंतर परमात्मा में स्थापित (करने का प्रयत्न) करे।

इस श्लोक से ध्यान की तकनीक का विवरण आरंभ होता है। वैसे तो ध्यान का अर्थ है मन तथा बुद्धि से अर्थात् विचारों से ऊपर उठना। ऐसी स्थिति में पहुंचना जहां नींद की भांति ज्ञान शून्यता भी न हो और जागृत अवस्था की भांति विचार भी न हो। इस अवस्था को चाहे जिस विधि से प्राप्त करें, हमारा उद्देश्य पूरा हो जाएगा। किन्तु जैसे प्रशिक्षक खिलाड़ी को प्रशिक्षित करता है तो उसे कुछ ऐसे तरीके सिखाता है जिनके द्वारा कम से कम मेहनत में ज्यादा से ज्यादा लाभ मिले, उसी प्रकार भगवान भी अपने

प्रिय मित्र अर्जुन को वे बातें बता रहे हैं जिनके द्वारा ध्यान का अभ्यास करने में परिश्रम कम हो।

पहले तो अपने शरीर, मन, बुद्धि पर नियंत्रण करना अर्थात् योगारूढ़ होना आवश्यक है ही। ऐसे योगारूढ़ व्यक्ति को सारी आशाएं, अपेक्षाएं त्याग देनी चाहिए। उसे कुछ संचय भी नहीं करना चाहिए और तब एकांत में ध्यान के लिए बैठना चाहिए। हम यदि थरमस में चाय रख कर ध्यान करने बैठेंगे और सोचेंगे कि ध्यान के बाद तो तुरंत चाय चाहिए अत: पहले से बना कर रख लें, तो निश्चित रूप से ध्यान चाय का ही होगा, परमात्मा का नहीं।

एकांत में बैठने के पहले यह भी आवश्यक है कि साधक संसार के किसी प्राणी से कोई आशा, कोई अपेक्षा न रखे। जब तक परिग्रह का लोभ और संसार के किसी भी व्यक्ति से कुछ पाने की आशा रहेगी तब तक ध्यान योग सध नहीं सकता। हमारा मन इनमें बंधा रहेगा। वह मुक्त हो ही नहीं पाएगा। आशाओं के बंधन टूटने पर ही मन में यह विचार आएगा कि मुझे अब और कुछ नहीं चाहिए, भगवान अब तुम मुझे मिलो। प्रभु मिलन की उत्कट लालसा होगी तभी उनके नाम में, उनके ध्यान में हमारा मन रमेगा। मन में भगवान के लिये या आत्मज्ञान के लिये ललक पैदा हो, इसके लिये आवश्यक है कि मन के लोभ-लालसाओं का कूड़ा कर्कट पहले निकाला जाए।

इस प्रकार हमें समझना चाहिए कि ध्यान की वास्तविक प्रक्रिया आरंभ करने के पहले अपने मन को कुछ तैयार करना आवश्यक है। इस प्रारंभिक तैयारी के बिना सफलता कभी नहीं मिल सकती। आजकल ध्यान की महिमा सुन कर हम सभी उत्साहित हो जाते हैं और ध्यान लगाने की कोशिश करते हैं, और जैसे ही एकांत में बैठते हैं मन में विचारों का तूफान उमड़ता है। बहुत बार तो ये विचार इतने गंदे या कुत्सित होते हैं कि हमें स्वयं अजीब लगता है। हमें यह समझ लेना चाहिए कि ध्यानाभ्यास हमारे दैनिक जीवन से बिल्कुल अलग कोई क्रिया नहीं है। दोनों का घनिष्ठ सम्बन्ध है। जब तक दैनिक जीवन को ध्यान योग्य नहीं बनाएंगे ध्यान-योग संभव नहीं। आधे घंटे के लिए एकांत में बैठ जाने से न तो हमारे विचारों का शुद्धिकरण होगा न वे लाभ मिलेंगे जिनके बारे में हमने सुन रखा है कि ध्यान

से सारे टेंशन दूर हो जाते हैं, शरीर और मन 'रिलैक्स्ड' हो जाता है और अपने कार्य करने में चुस्ती-फुर्ती आती है। पहले तो अपनी दिनचर्या, दैनिक जीवन को ही नियंत्रित करके मन को शुद्ध करना पड़ेगा वर्ना ध्यान का जोश-खरोश कुछ ही दिनों में समाप्त हो जाएगा।

योगी, यतचित्तात्मा बनने के लिए हमें अपनी अवस्था, सामर्थ्य, शक्ति, योग्यता के अनुसार ज्ञान, भक्ति, कर्म तीनों योगों का अभ्यास करना चाहिए। शास्त्रों का अध्ययन-मनन करें, प्रभु के प्रति भक्ति भाव रखें, उनकी कीर्ति का स्मरण और गान कर अपने आप को उनके चरणों में समर्पित करें, साथ ही साथ नि:स्वार्थ भाव से 'जन' में जर्नादन को देखते हुए सबकी सेवा करें, फल के लिए चंचल हुए बिना लगन के साथ परिश्रम करें। यह सब करने से हमारा विचार कम भी होंगे और सुन्दर भी होंगे। इस प्रकार हमारा मन धीरे-धीरे नियंत्रित होगा। इसके साथ ही अपनी योग्यता के अनुरूप हमें ध्यान की 'प्रक्रिया' का भी अभ्यास करना है। अब भगवान यह प्रक्रिया विस्तार से बताएंगे।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मानः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ।११।।

शुद्ध स्थान पर क्रमशः कुशा, मृगछाला और वस्त्र को (एक के ऊपर एक) बिछा कर, अपने आसन को न तो बहुत ऊंचा, न बहुत नीचे, अविचल रूप से स्थापित करें।

इस श्लोक में ध्यान की प्रणाली के लिए बाहरी तैयारी का वर्णन किया गया है। यह सही है कि ध्यान का अभिप्राय तो मन की शांति से है। मन शांत होना चाहिए चाहे साधक कैसी भी अवस्था में कहीं भी बैठकर ध्यान लगाए। किन्तु जो मन की इस उच्च अवस्था को पाने के लिए प्रयत्नशील हैं उन्हें तो अपनी सुविधा के लिए कुछ तो बाहरी तैयारी पर भी ध्यान देना होगा। सर्वत्र शांति, स्वच्छता होने पर भी यदि मन जप में एकाग्र

नहीं हो पाता तो जहां कूड़ा-कर्कट हो, दुर्गंध हो, शोर-शराबा हो, इतना तो छोड़िए, एक मक्खी भी भिनभिना रही हो तो हमलोगों को डिस्टर्ब करने के लिए काफी है। अतः शुचिता पर ध्यान देना सबसे आवश्यक है। इसके बाद आसन पर भी ध्यान देना जरूरी है। यहां कहा गया है कि आसन न तो बहुत ऊंचा हो न नीचा। इसका अर्थ यह समझना चाहिए कि न तो छत की मुंडेर पर बैठना है न भूगर्भ में घुसना है। ऊंचे आसन में गिरने का भय रहता है। नीचा होने पर सीलन आदि की सम्भावना होती है। आसन स्थिर भी होना चाहिए। वही हिलता-डुलता रहेगा तो शरीर कैसे स्थिर रहेगा?

आसन का वर्णन करते हुए भगवान कहते हैं कि कुशा के ऊपर मृगछाला तथा उसके ऊपर कपड़ा रखना चाहिए। कुशा के नीचे से ठंडक, सीलन आदि नहीं आती। मृगछाला नरम होती है, उसके ऊपर चींटी, कीड़े आदि नहीं चढ़ते किन्तु उसके रोएं चुभ सकते हैं, पसीने से चिपचिपा लग सकता है अतः उसके ऊपर कपड़ा लगाना चाहिए। वास्तव में इसका अर्थ यह नहीं कि हम अपने पूजाघर में बैठकर ध्यान लगाने का प्रोग्राम बनाएं तो पहले मृगछाल जुगाड़ करने में लग जाएं। इस वर्णन से हमें एक अंदाज हो जाता है कि आसन की क्या विशेषता होनी चाहिए। हम सबके लिए चार तह किया हुआ कम्बल पर्याप्त है। आसन स्थिर होना भी चाहिए। राकिंग चेयर या डनलप के गद्दे पर बैठकर ध्यान नहीं लगाया जाता।

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ।।१२।।

इस आसन पर बैठ कर चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं का नियमन करते हुए, मन को एकाग्र करके अन्तःकरण की शुद्धि के लिए योग का अभ्यास करे।

इस आसन पर बैठ कर भगवान ने मन को एकाग्र करने का प्रयत्न करने को कहा है। यहां अनेकाग्र, शून्याग्र और एकाग्र में अंतर समझ लेना आवश्यक है। अनेकाग्र मन का अनुभव तो हम सभी को बहुत अच्छा है। मन ऐसा उपकरण है जो एक साथ इतनी तरह की बातें सोच लेता है कि

हम समझने की कोशिश करें तो भी समझ ही नहीं पाते कि ये विचार किस क्रम से पैदा हुए। राम-राम करते हुए रसोईघर, आफिस, ड्राइंगरुम से होते हुए कैसे बेटी के घर और फिर दस साल पहले रेल में मिले एक सहयात्री तक पहुंच गया यह पता भी नहीं चलता है। यह मन की अनेकाग्रता है जो तब तक बनी रहती है जब तक कि हम जागृत या स्वप्नवस्था में होते हैं। इसके बाद सुषुप्ति अर्थात् गहरी नींद की स्थिति में हमारे मन के सारे खेल बंद हो जाते हैं, वह कहीं विचरण नहीं करता। न तो वह बाहरी वस्तुओं के प्रति चेतन होता है न वासना रहितता के आनंद का उपभोग करता है। यह मन की शून्याग्रता है। हमें तो अभी इन दोनों से भिन्न मन को एकाग्र करना है। मन को अब तक के उसके स्वभाव से विपरीत किसी काम में लगाना है तो मेहनत के साथ चालाकी यानी तकनीक तो चाहिए ही।

एकाग्र करने की तकनीक में पहला बिन्दु है चित्त और इन्द्रियों को अक्रिय करना। आंखें इधर-उधर देखे नहीं, वाणी उटपटांग बोले नहीं, कान पड़ोसी के झगड़े को सुनने का प्रयत्न न करें, नाक यह सूंघने की कोशिश में न रहे कि नाश्ते में हलवा मिलने वाला है या इडली। इसी प्रकार चित्त को भी कल्पना की ऊंची-ऊंची उड़ाने भरने से रोकना है।

इस प्रकार इन्द्रिय और चित्त को अक्रिय कर मन को एकाग्र करते हुए भगवान आसन पर बैठ ध्यान योग का अभ्यास करने की सलाह देते हैं। 'उपविश्यासने' का तात्पर्य यह समझ लेना चहिए कि यदि हम सोचे कि सुबह पार्क में टहलते-टहलते ध्यान कर लेंगे तो यह पागलपन है। हमें आसन पर बैठकर योग करना है अर्थात् अपने को ब्रह्म से जोड़ना है। यहां 'योग' का तात्पर्य परम लक्ष्य ही नहीं, उसके लिए की गई साधना को भी योग ही कह देते हैं जैसे चाय बनाने के लिए पानी उबालने को भी चाय बनाना ही कह दिया जाता है। अनेकाग्रता से एकाग्रता की स्थिति में आने का प्रयत्न करना ही योग का अभ्यास है।

यह सब किस लिए करें- आत्मविशुद्धये, अर्थात् आत्म शुद्धि के लिये। यह सब करने से हमारा चित्त शुद्ध होगा, हमारा मन निर्मल होगा, हमारी बुद्धि में विक्षेप कम होगा। एकाग्र करना अर्थात् एक विचार में स्थिर करना योग की पूर्णता नहीं है। अभी तो आगे और भी मंजिलें हैं पर यह स्पष्ट समझ लें कि हमारा लक्ष्य कोई चमत्कारिक सिद्धि प्राप्त करना नहीं

हो या सांसारिक उपलब्धि प्राप्त करना नहीं हो। कुछ तांत्रिक रात को श्मशान में जाकर अभ्यास करते हैं। एकाग्रता उसके लिये भी पूरी चाहिए, आसन पर बैठ कर मन को इधर-उधर से हटाकर वे भी अत्यन्त एकाग्रता से मंत्र का जप करते हैं, किंतु उनका उद्देश्य किसी को मार डालना भी हो सकता है या ऐसी शक्ति प्राप्त करना कि किसी को देखते ही उसका अतीत वर्तमान जान लें। वे आत्मशुद्धि के लक्ष्य से यह साधना नहीं करते अत: यह ध्यान योग नहीं है। ऐसे कर्म हमें ब्रह्म से जोड़ते नहीं, उससे दूर करते हैं।

आत्मशुद्धि के लक्ष्य को लेकर आसन पर बैठने के बाद शारीरिक क्रियाएं क्या होनी चाहिए यह बताते हुए भगवान कहते हैं:-

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलंस्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ।।१३।।

काया, सर और गर्दन को एक सीध में तथा अचल रखकर अपनी नासिका के अग्रभाग को स्थिर भाव से दृष्टि जमाकर देखते हुए अन्य दिशाओं में दृष्टि न फेरें।

काया, सर और गर्दन को सीध में रखते हुए अचल अर्थात् जरा भी हिले डुले बिना बैठना है। हमारा उद्देश्य तो मन और बुद्धि को ध्यानानुकूल बनाना है इसके लिए शरीर को स्थिर करने का मनोवैज्ञानिक कारण है। हम स्पष्ट देखते हैं कि जब कोई व्यक्ति बहुत उद्विग्न और अस्थिर तथा बेचैन होता है तो वह शारीरिक रूप से भी शांत नहीं रह पाता। इधर-उधर टहलता है, कभी हाथ मलता है कभी सर मलता है। ये सब क्रियाएं उसके हृदय की अशांति को प्रकट करती है। यानि चित्त और शरीर की अस्थिरता का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसीलिए ही ऐसी सलाह दी जाती है। यहां साध्य है चित्त को शांत करना, साधन है शरीर अत: साधना का प्रारम्भ तो शरीर से ही किया जाएगा। शरीर को स्थिर रखें तो मन अपेक्षाकृत शांत और स्थिर होगा।

यहां यह भी समझने का बात है कि काया, सर, गर्दन को सीध में रखे बिना अधिक देर स्थिर बैठा नहीं जा सकता इसीलिए इसकी चर्चा विशेष रूप से की गयी है। बैठने का ढंग ऐसा होना चाहिए कि साधक अधिक से

अधिक देर बिना तकलीफ के बैठ सके। यदि किसी के लिए पैर मोड़कर बैठना संभव न हो तो कुर्सी पर ही बैठा जा सकता है।

स्थिर होकर बैठने के बाद अपनी दृष्टि को नासिका के अग्र भाग में स्थिर करना है लेकिन इसका अर्थ भी नाक की नोक को देखना नहीं समझना चाहिए क्योंकि यह तो बहुत तकलीफदेह क्रिया है। यही स्पष्ट करने के लिए भगवान ने इसी के साथ एक शब्द और जोड़ा है- दिशश्चानवलोकयन् अर्थात् किसी भी दिशा में न देखना। तात्पर्य यह है कि हम आरम्भ से सामने की ओर देखते हुए आंख बंद कर लें। मन में वस्तुओं का चिंतन करते हुए भी इधर उधर आंखें न घुमाएं।

एक विशेष बात उल्लेखनीय है। साधारणत: 'जिज्ञासु' इस श्लोक में जो बताया गया है उसी से ध्यान की शुरूआत करते हैं। आजकल यह मान्यता तो प्रचलित होने लगी है कि सुबह कुछ देर 'मेडिटेशन' करने से जीवन में बहुत लाभ होता है। बहुधा लोगों के मन में जिज्ञासा जागती है कि 'मेडिटेशन' किया कैसे जाता है। तब उन्हें बताया जाता है कि इसके लिए सुबह नहा कर आसन पर बैठ जाओ। शरीर को एकदम स्थिर करो आदि-आदि। वह बेचारा कोशिश आरंभ कर देता है लेकिन नतीजा कुछ निकलता नहीं। यहां ध्यान दीजिए, भगवान छठे अध्याय के आरंभ से ध्यान पर चर्चा कर रहे हैं और इस बात पर अब तेरहवें श्लोक में आए हैं। इसके पहले के श्लोकों में जो कुछ कहा उसे नकार कर बीच से आरंभ करेंगे तो तो योग कैसे सधेगा?

'कल्याण' के पूर्व सम्पादक एवं कन्हैया के अनन्य भक्त श्री सुदर्शन सिंह 'चक्र' को एक बार किसी इंजीनियर ने पत्र लिखा-'मेरी एक समस्या है, मैं बहुत दिनों से ध्यान लगाने की कोशिश कर रहा हूं, लगता नहीं।' चक्र जी ने उत्तर दिया- 'मेरी भी एक समस्या है। मैं एक कमरा बनवाना चाहता हूं। छोटी सी कोठरी भी चलेगी लेकिन वह दूसरी मंजिल से आरंभ होनी चाहिए। जमीन पर बनाने में बहुत झमेला है, टैक्स वगैरह भी देना पड़ता है। आप तो इंजीनियर हैं, कोई उपाय बताइये। उन्होंने आगे लिखा- 'साधना के आठ अंग हैं, यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। आप सातवीं मंजिल से आरंभ करना चाहते हैं,

मैं तो दूसरी मंजिल की बात कर रहा हूं। आप मेरी समस्या सुलझा दें, मैं आपकी सुलझा दूंगा।' उनका उत्तर आया, 'मैं समझ गया।'

भगवान ने ध्यान के लिए बैठने के पहले कितनी बातें बताई हैं- पहले निष्काम कर्म के द्वारा चित्तः शुद्धि करें, विषयों और कर्मों की आसक्ति को त्यागें, सुख-दुख आदि शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक द्वन्द्वों को शांत चित्तता के साथ सहन करने की आदत डालें, मन पर नियंत्रण करें, इन्द्रियों की मांग पूरी करने के लिए भटकने की आदत छोड़ें, संसार की वस्तुओं के प्रति तीव्र आकर्षण का त्याग करें, सभी अपने परायों के साथ समान व्यवहार करें आदि-आदि। इन सबका संबंध हमारे दैनिक जीवन से है। ध्यान के लिए बैठेंगे तो हम अधिक से अधिक आधे घंटे। बाकी साढ़े तेइस घंटे के जीवन और दिनचर्या पर 'ध्यान' नहीं देंगे तो आधा घंटे ध्यान नहीं लगा सकता। पर इन सब में झमेला मालूम होता है अतः हम सीधे ध्यान लगाने बैठना चाहते हैं।

वैसे इसका मतलब यह भी नहीं ले लेना चाहिए कि इस क्रिया का आरंभ हम तब ही करें जब पूरी तरह मन पर नियंत्रण हो जाए, सबके प्रति समबुद्धि हो जाये, सभी प्रकार की आसक्ति छूट जाये। ऐसा संभव नहीं है। यदि ऐसा हो जाये तो भगवान के अनुसार हम योगी ही हो जाएंगे, फिर ध्यान की जरूरत ही कहां रह गई?

अतः आसन पर बैठ कर करने वाली क्रिया भी करे, लेकिन चित्त एकाग्र नहीं हो रहा हो, तो यह सोचें कि ध्यान लगता क्यों नहीं? निराश होने के बजाय उसके पहले जो कुछ करना चाहिए था उसके लिए भी प्रयत्न करें। अपने दैनिक जीवन को संतुलित करेंगे तो देखेंगे कि ध्यान के समय मन अपेक्षाकृत शांत रह रहा है। ध्यान के समय मन शांत रह पायेगा तो उसका असर बाकी दिनचर्या पर पड़ेगा। इस प्रकार दोनों चरण साथ-साथ बढ़ते हुए मंजिल की ओर जायेंगे।

अब तक तो आसन पर बैठने के बाद की शारीरिक प्रक्रिया बता रहे थे, अब अगले श्लोक में भगवान मानसिक प्रक्रिया बताते हैं।

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ।।१४।।

प्रशान्त मन के साथ भय रहित होकर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए, मन को संयमित कर, युक्त होकर, मुझे अपने चित्त में धारण कर, तथा मुझे ही अपना परमलक्ष्य मान कर बैठें।

ध्यान के अनुकूल मानसिक अवस्था का विवरण देते हुए भगवान सबसे पहले कहते हैं- प्रशान्तात्मा अर्थात् मन को शांत रखते हुए। हम जो सांसारिक गृहस्थ है, सबसे ज्यादा पीड़ित तो मन की अशांति से ही हैं। सच पूछें तो ध्यान अथवा मेडिटेशन की ओर आकर्षित ही इसलिए हुए हैं कि जरा मन की शांति मिल जाए। मन शांत ही हो जाएगा तो फिर ध्यान करना ही क्यों है? तो फिर मन की शांति और ध्यान दोनों में साध्य किसे मानें, साधन किसे कहें। सब बातें गडमड हो जाती हैं। यदि इन सब बातों में हमारे विचार स्पष्ट नहीं हुए तो हम कहीं पहुंच नहीं पाएंगे।

ध्यान दें कि साधक के लिए आरम्भिक अवस्था में तो दोनों साधन है और दोनों ही साध्य। बाद में क्या होगा इसकी चर्चा यथा समय बाद में की जाएगी, अभी हम ऐसे व्यक्ति के मनोविज्ञान से ही शुरूआत करें जिसने अभी-अभी इस क्षेत्र में कदम रखा है। यदि हम शब्दों पर ज्यादा ध्यान देंगे तो कुछ गडमड तो होना स्वाभाविक है। जैसे कोई कहे मैं आटा पीस रहा हूं। भाव हम समझ गए, लेकिन झंझट बढ़ाना हो तो कह सकते हैं- आटा जब है ही तो उसे क्यों पीस रहे हो, करना क्या है तुम्हें? आटा तुम पाना चाहते हो कि आटे को पीसना चाहते हो, आटा साध्य है या साधन?

इसलिए हमारे लिए भी अच्छा होगा कि इन कुतर्कों में न पड़ कर मतलब की बात ग्रहण करने का प्रयास करें। देखें कि मन की शांति और ध्यान के अभ्यास में कैसा संबंध है? मान लें कि हम बहुत अशांत हैं और अब ध्यान के द्वारा शांति के लिए प्रयास कर रहे हैं। अपने आसन पर बैठ मन को एकाग्र करने की कोशिश की। हमने पाया कि हमारे मन में तो और अधिक तूफान उठने लगा है। जो विचार अभी कुछ देर पहले तक नहीं आए थे वे भी अब बैठने के बाद न जाने कहां से आकर परेशान कर रहे हैं। हम

और अशांत हो उठे। लेकिन कुछ देर पहले की अशांति और अभी की अशांति में एक अंतर है। इसके पहले हम सतर्क नहीं थे, हम विचारों को धकेलने की कोशिश ही नहीं कर रहे थे, हम तो उसमें डूबते जा रहे थे। हमारे विचार संख्या में बहुत अधिक है, बेकार है, निरर्थक है, गंदे हैं, इन्हें हटना चाहिए। यह जागरूकता आना क्या कम बड़ी उपलब्धि है?

जागरूकता आने के बाद हममें लगन और धैर्य हो और ध्यान के समय प्रशान्त मन हमारा लक्ष्य हो (क्योंकि अभी दिन भर की शांति की बात तो हम सोच भी नहीं सकते) तो हम उन विचारों का विश्लेषण करेंगे। हम पाएंगे कि जिस दिन हमने अमुक-अमुक काम किए उस दिन मन रोज से भी ज्यादा अशांत था। जिस दिन हमने अमुक-अमुक काम किए उस दिन हमें बहुत हल्का महसूस हुआ था। इस प्रकार दूसरी उपलब्धि होगी- विचारों का विश्लेषण और फिर उनके अनुरूप सही या गलत कर्म करने न करने का निर्णय।

इस प्रकार विचारों की मात्रा और गुणवत्ता में कुछ अन्तर आएगा तो हम पाएंगे कि ध्यान के समय मन की अनेकाग्रता कम हुई है। तब हम और सुधार का प्रयास करेंगे। इस तरह मन की शांति और ध्यान की एकाग्रता साथ-साथ सधती है। शांत होने के बाद ध्यान करना या ध्यान के बाद शांत होना, ये दोनों ही अव्यवहारिक है। दोनों बातें साथ-साथ चलेंगी, भगवान का यही अभिप्राय है जो आगे के श्लोकों में और स्पष्ट हो जाएगा।

साधक को भय मुक्त भी होना होगा। जूते की सुरक्षा, या घर की लोगों अथवा पुलिस या इन्कम टैक्स की रेड के भय को लेकर ध्यान नहीं सध सकता। यहां भी विगतभीः शब्द का संदेश यही है कि ऐसे कार्यों पर भी अंकुश लगाने का प्रयत्न करें जो हमें भयभीत रखते हैं।

ब्रह्मचर्य व्रत में स्थित होने का अर्थ कुंवारा रहना नहीं है। कुंवारे तो यहां गीता के उपदेशक स्वयं भी नहीं है न ही शिष्य है। जिसने विवाह कर ही डाला है उसे ब्रह्मचर्य की बात बता कर योगी बनने की प्रेरणा देने वाले का मतलब तो निश्चित ही कुछ और ही होगा। हम अपनी वासना के गुलाम न हों, अपनी इन्द्रियों के वश में न चलें यही वास्तविक ब्रह्मचर्य है।

भगवान कहते हैं, इस प्रकार मन को 'संयमित करो'। इसके आगे

उन्होंने दो शब्द कहे हैं- **मच्चित:, मत्पर:**। ये ही हमारी कुंजी हैं। इन्हें करेंगे तो अभी तक शांति एकाग्रता आदि की बातें जो समस्या बनी हुई थी, वे सहज ही हल हो जाएगी। ये बड़े व्यवहारिक उपाय हैं। इन्हें ठीक से समझें। **मच्चित:** यानी मुझमें चित्त लगाओ। **मत्पर:** यानी मुझे अपना परम लक्ष्य बनाओ। यह श्रीकृष्ण अपने परमात्मस्वरूप में प्रतिष्ठित होकर कह रहे हैं अत: 'मुझ' का अर्थ वंशी वाला गोपाल न समझ कर अपने अपने इष्ट को ही मानना चाहिए पर यहां वर्णन की सुविधा के लिए हम उसी को ले लें जिसे हम माखनचोर, रासबिहारी, मुरली मनोहर, गोपाल, द्वारका नाथ आदि नामों से जानते हैं।

हमारे मन को विचार करने के लिए कुछ न कुछ न चाहिए। हमें विचारों की मात्रा भी कम करनी है और उन्हें शुद्ध भी करना है। तो क्यों न अड़ोसी-पड़ोसी और दूरदराज के संबंधियों की बातें सोचने के बदले भगवान के विषय में सोचने की आदत डाले। दूसरी बातों से हो सकता है बे वजह हम उद्विग्न हो जाएं, पुरानी कोई 'खराश' याद आ जाए और पड़ोसी से झगड़े का मूड बना लें लेकिन कन्हैया के चिंतन से, उसकी लीलाओं के पठन-पाठन और चर्चा से यह सब कुछ नहीं होगा। उसके विषय में सोचने से मन को इधर उधर घूमने की कुछ छूट भी होगी लेकिन उसे एक केन्द्र भी मिल जाएगा अत: अनेकाग्रता भी कम होगी और शुद्धिकरण भी होगा। यह बड़ा व्यावहारिक उपाय है।

उसे केवल अपने मन के विचारों का केन्द्र नहीं बल्कि परम लक्ष्य मानना है यह और आगे की अवस्था है। जब हृदय में यह भाव आ जाएगा की मेरे तो तुम ही हो, मुझे तो तुम्हें ही पाना है, तुम्हारा चिंतन, तुम्हारी खुशी, तुम्हारी इच्छा ही मेरे जीवन में सर्वोपरि है, तो देखिएगा कैसे चमत्कारिक ढंग से विचार पीछे छूटने लगते हैं। जैसे- रोते हुए बच्चे को खिलौने नहीं चाहिए, टॉफी नहीं चाहिए, दूध नहीं चाहिए, उसे तो बस मां की गोद चाहिए तो मां को गोद में उठाना ही पड़ता है। हम बस एक बार इस तरह रोना सीख जाएं, फिर कुछ करने की जरूरत नहीं, बाकी सब मां ही करेगी।

अब भगवान ध्यान के परम लक्ष्य के बारे में बता रहे हैं:-

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शांतिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति।।१५।।

इस प्रकार अपने चित्त को निरन्तर (मुझ परमात्मा के स्वरूप में) लगाता हुआ संयमित मन वाला योगी निर्वाण को प्राप्त कराने वाली मेरी स्वरूपभूता शांति को प्राप्त होता है।

ध्यान का परम लक्ष्य है निर्वाण अर्थात् मोक्ष। यह पराकाष्ठा यानी परम लक्ष्य है। प्रस्तुत श्लोक में इस परम लक्ष्य की प्राप्ति के ठीक पहले तक की स्थिति के विषय में कहा गया है। इस स्थिति को प्राप्त करने तक हमारा पुरुषार्थ, हमारी लगन, मेहनत आदि काम आती है, उसके बाद अगली स्थिति 'निर्वाण' की अवस्था अपने आप मिलती है, इसके लिए 'करना' कुछ नहीं होता।

पिछले श्लोक तक हम आसन पर बैठ मन को एकाग्र करने का प्रयत्न कर रहे थे। झूले की भांति ऊपर-नीचे डोलना मन का स्वभाव ही है। कभी सात्विक विचार, ब्रह्म का चिंतन आदि मन के पटरे को ऊपर ले जाते हैं, कभी कुत्सित विचार, दुष्प्रवृतियां और बुरी भावनाएं उसे नीचे झुका डालती हैं। हम उन्हें संतुलित करने का प्रयास करते हैं। प्रारम्भिक अवस्था में सफलता तो न के बराबर मिलती है पर मन में जन्म जन्मांतरों से भरते जा रहे कचरे के प्रति जागरूकता आती है। हम यह समझ पाते हैं कि विचारों का अतिरेक ही दुख तथा अशान्ति और विचारों की शून्यता ही शांति है। एक विचार बार-बार उभरे, हम बार-बार उसे धकेलें, इस प्रकार मन की वर्जिश होती है और हमारे दैनिक जीवन में भी काम आती है। बहुत बार ऐसा होता है कि हमें बहुत एकाग्रता के साथ कोई योजना बनानी है लेकिन आज किसी के साथ हमारा बहुत झगड़ा हुआ है। हम उससे इतने परेशान हैं कि एकाग्रचित हो नहीं पा रहे। यदि रोज पन्द्रह मिनट सुबह हम अनचाहे विचारों को स्विच ऑफ करने की वर्जिश करें तो निश्चित रूप से ऐसे समय भी हमें लाभ होगा।

धीरे-धीरे हमें अपने विचारों पर नियंत्रण करना आएगा। बुरी और परेशान करने वाली वासनाएं पैदा करने वाले कर्मों से बचने की कोशिश

करेंगें करते-करते विचार जहां आंधी की तरह घुमड़ते थे वहां अब हवा की भांति आएंगे। हजारों विचारों की संख्या घट कर जब सैकड़ों में आएगी तो हमें अपेक्षाकृत शांति का अनुभव होगा। इस शांति में हम आनन्द भी जुड़ा पाएंगे। जैसे-जैसे इस शांति का स्वाद हमें मिलेगा, हम इसकी मस्ती को पहचानेंगे वैसे-वैसे मन इसके लिए और प्रयत्नशील होगा। धीरे-धीरे विचार लुप्त होते जाते हैं। अन्त में साधक और परमात्मा के बीच अहं का एक झीना आवरण मात्र रह जाता है। संतुलत और संयमित मन वाले साधक के लिए यह परम शांति की अवस्था है जहां वह मन और उसके विचारों के साथ संघर्ष करते-करते पहुंचता है। यह परमशांति की अवस्था है जिसे सविकल्प समाधि भी कहते हैं।

इसके बाद साधक को कुछ 'करना' नहीं होता। सविकल्प समाधि में स्थित साधक का यह अंतिम भाव 'मैं शांति का अनुभव कर रहा हूं' भी अन्ततः लुप्त हो जाता है और वह ब्रह्म से एकाकार हो जाता है। यह निर्विकल्प समाधि अर्थात् निर्वाण की अवस्था है जो जीव का परम लक्ष्य है, जिसे पाने के लिए ही वह विभिन्न योनियों में भटकता है।

इस प्रकार लक्ष्य का परिचय देने के बाद भगवान साधक के लिए उपयोगी कुछ व्यवहारिक सुझाव देते हैं।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति नचैकान्तमनश्नतः ।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ।।१६।।
युक्ताहार विहारस्य युक्त चेष्टस्य कर्मसु ।
युक्त स्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुखःहा ।।१७।।

हे अर्जुन, यह योग न तो बहुत अधिक खाने वाले को प्राप्त होता है न एकदम नहीं खाने वाले को। न तो बहुत सोने वाले को न ही (बहुत) जागने वाले को।

नियमित आहार-विहार करने वाले, उचित मात्रा में कर्मशीलता रखने वाले तथा उचित मात्रा में सोने-जागने वाले के लिए (यह) दुःख निवारक होता है।

प्रस्तुत दोनों श्लोक भगवान बुद्ध द्वारा बताए गए मध्यम मार्ग का निरूपण करते हैं। सिद्धार्थ एक उम्र तक भोग की दुनिया से ही परिचित थे। वे जानते ही नहीं थे कि दु:ख क्या होता है। कष्टों का ज्ञान होते ही वे सत्य की खोज में निकल पड़े। लम्बे काल तक निराहार रहकर उपासना की, शरीर को सुखा डाला लेकिन उन्हें न शांति मिली न निर्वाण। अंत में उन्होंने भोजन ग्रहण किया। उन्हें अनुभव हुआ कि किसी भी दिशा में अति नहीं होनी चाहिए। निर्वाण प्राप्ति के बाद उन्होंने मध्यम मार्ग अर्थात् अतिरेक रहितता का उपदेश दिया।

साधक को न तो बहुत अधिक ठूंस-ठूंस कर खाना चाहिए न बहुत कम खाना चाहिए। वास्तव में यदि हम बहुत ही कम खाएंगे तो हमारा शरीर हमारा अच्छी तरह साथ नहीं देगा। हम भगवान का क्या पेट का ही ध्यान करते रह जाएंगे। इसी प्रकार अधिक खाने से भी आलस उपजता है, नींद आती है, शरीर की फुर्ती समाप्त हो जाती है। ध्यान करना देखने में 'कुछ न करना' लगता है पर वास्तव में इसके लिए बहुत सजगता चाहिए। अत: भोजन का सुनहरा नियम यह है कि जो पौष्टिक और गुणकारी भोजन हमें आसानी से मिल सके उसे इतनी मात्रा में खाएं कि पेट भारी न हो और शरीर के लिए जरूरी तत्व आवश्यक मात्रा में मिल जाए।

यहां 'आहार' शब्द का प्रयोग किया गया है लेकिन इसका अर्थ केवल मुख से ग्रहण करने वाला भोजन नहीं समझना चाहिए। हमारी पांचों ज्ञानेन्द्रियों-आंख, नाक, कान, रसना और त्वचा को भिन्न-भिन्न प्रकार का भोजन चाहिए। आंखें सुन्दर दृश्य देखना चाहती है, नाक को सुगंध, कान को मधुर संगीत की प्यास होती है और त्वचा को सुखद स्पर्श चाहिए। हमें हर इंद्रियों की मांग को सावधानीपूर्वक पूरा करना है।

इसी प्रकार अधिक सोने वाला भी आलसी हो जाता है, वह कोई भी कार्य उत्साह के साथ नहीं कर सकता। बहुत कम सोने वाले के शरीर को भी आवश्यक विश्राम नहीं मिल पाता। इसी विश्राम का इंतजाम प्रकृति ने निद्रा के रूप में किया है। नींद लेने के बाद ही हम पुन: उत्साह के साथ कर्म कर सकते हैं। तात्पर्य यह है कि शरीर की आवश्यकताओं कि पूर्ति अवश्य करें पर उसे किसी भी वस्तु या भोग में लिप्त होने से बचाते हुए ध्यान का अभ्यास करें।

गीता हमें हर वक्त मुंह फुलाए मौनी बाबा बने बैठने की सलाह नहीं देती। युक्त आहार के साथ युक्त विहार भी आवश्यक है। हम अपने सभी कर्त्तव्य, कर्म, प्रसन्न मन से युक्तिपूर्वक करें। बहुत से लोग इधर-उधर दौड़ते हैं, काम कुछ कर भी नहीं पाते। उन्हें काम करने की कला और कौशल नहीं आता। नववधू दो व्यक्तियों का भोजन बनाने में थक कर चूर हो जाती है, वही औरत दस वर्ष बाद बच्चों का भी काम हंसते-हंसते कर लेती है और फिर भी दूसरी बातों के लिए भी समय निकाल लेती है क्योंकि अब वह कला जान गई है। हमें भी अपने सभी कार्य और मनोरंजन आदि में आंखें भी नहीं बंद करनी न ही उनमें अत्यधिक फंसे रहना है। तभी हम योग की साधना कर पाएंगे। तभी हमारे कष्टों का निवारण होगा वर्ना योग भी जी का जंजाल ही बन कर रह जाएगा।

ध्यान योग की साधना के लिए और क्या समझना आवश्यक है? भगवान बताते हैं-

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥१८॥

जिस समय अच्छी तरह वश में किया हुआ चित्त समस्त कामनाओं से निस्पृह हो अपने आप में ही स्थित हो जाता है, उस समय (उस पुरुष को) युक्त कहा जाता है।

आहार और विहार में संतुलन के बाद भगवान इस श्लोक में तीन और बातें बता रहे हैं- नियंत्रित मन, कामनाओं से निस्पृहता तथा आत्मा में स्थिति।

मन ही इन्द्रियों के रास्ते इधर-उधर भागता है। इन्द्रियां तो नियंत्रित ही हैं, वे अपना काम करती हैं, अपने स्थान पर रहती हैं। आंखें अपने स्थान पर ही रहकर जो सामने पड़ता है उसे देखती हैं। देखना उसका काम है, जो भी दिखेगा, उसे देखना ही होगा। वह अनियंत्रित होकर 'सुनने' का कार्य करने का प्रयत्न तो करती नहीं। अब यह कार्य मन का है कि आंखों को

क्या दिखाए क्या नहीं। हमारा मन होता है तो हम उसे सिनेमा दिखाते हैं, हमारा मन होता है तब भगवान की तस्वीर के दर्शन कराते हैं। अत: मन को नियंत्रित करना जरूरी है ताकि वह इन्द्रियों से वही कराए जिसमें हमारा कल्याण हो, हमें शांति की प्राप्ति हो, हमारे विचार में उत्कृष्टता आए, हमारे हृदय में किसी के प्रति वैर और घृणा के बीज न उपजे।

इस प्रकार हम बाहरी विषयों, वस्तुओं और व्यक्तियों के प्रति मन को नियंत्रित कर भी लें तो भी कामनाएं और विचार तो मन में उठेंगे ही। विचार तो मन की प्रवृत्ति है। विचारों के प्रवाह को ही मन कहते हैं। हमें यह शिकायत नहीं करनी चाहिए कि ध्यान के वक्त मन में विचार क्यों उठते हैं। यदि हम शिकायत करें कि नदी में पानी बहता क्यों है तो यह बेतुकी बात है। विचार करना मन का काम है और वह करता है। बुद्धि का काम है उसे स्वीकार करना या न करना। मन में उठने वाली कामनाओं को बुद्धि अस्वीकार कर दे, उसके प्रति उदासीन होकर रहे तो मन की कामनाएं हमें कहीं नहीं ले जा सकती।

जैसे कोई लड़का पढ़ने के वक्त साइकिल लेकर घूमने निकल जाए और बाजार में पापा द्वारा पकड़ लिए जाने पर कहे, 'मैं क्या करूं मुझे साइकिल यहां ले आई' तो उसे हम क्या कहेंगे? साइकिल किसी को भी नहीं ले जा सकती जब तक उसके पैडल को बल और गति न दी जाए। इसी प्रकार मन के विचार हमें कहीं नहीं उलझा सकते जब तक उसे बढ़ावा नहीं दिया जाए।

ध्यान के समय बैठें तो मन के विचारों को रोकने का नहीं, उनसे निस्पृह होने का प्रयत्न करें। मन में एक के बाद एक विचार आते जाएंगे, जैसे अपने बरामदे में खड़े होकर जुलूस देखते हैं वैसे निस्पृह निरपेक्ष हो कर अपने विचारों को देखने का प्रयत्न करें। अच्छे विचारों के लिए अपने शाबासी न दें, बुरे विचारों के लिए अपने आप को कोसें नहीं। ऐसे निस्पृहा आएगी तो मन भटकने के बजाय अपने आप शांत और स्थिर हो जाएगा। आत्मा का चिंतन तभी संभव होगा।

कामना से अविचलित, आत्म चिंतन में स्थित मन का वर्णन भगवान अगले श्लोक में करते हैं:-

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः।।१९।।

जिस प्रकार वायु रहित स्थान में स्थित दीप कम्पित नहीं होता, वैसी ही उपमा अपने आत्मस्वरूप के ध्यान में लगे हुए योगी के नियंत्रित चित्त की कही गई है।

यहां योगी के मन की उपमा दीपक की लौ के साथ दी गई है जो बड़ी सार्थक है। दीपक की लौ अस्थिर होती ही है। हवा के हल्के से झोंके के साथ वह हिलने लगती है। यदि दीपक को खिड़की में रख दिया जाय तो लौ कभी इधर होगी कभी उधर। ऐसे प्रकाश में हम कुछ भी ठीक से देख नहीं पाते। जब हम दीपक को ऐसे कोने में रख देते हैं जहां हवा न हो तो उसकी लौ कम्पित नहीं होती। तब वह स्थिर प्रकाश देती है जिसमें हम स्पष्ट देख पाते हैं। इसी प्रकार मन भी चंचल है। इच्छाएं कामनाएं प्रतिक्षण उठती रहती है। एक इच्छा जाती नहीं दूसरी आ जाती है और यह मन खिड़की में रखे दीपक की लौ की भांति अस्थिर रहता है। ऐसा अस्थिर मन इन्द्रियों को दिशा दिखाने का काम अच्छी तरह कर नहीं सकता। लेकिन योगी पुरुष के विचारों के झोंके रुके हुए रहते हैं, उसके मन की लौ विकम्पित नहीं होती। इसी स्थिर शांत मन के द्वारा वह ब्रह्म का साक्षात्कार कर पाता है।

ध्यान योग के लिए भी क्या करना है इसकी बात पूरी हुई नहीं है। मन को स्थिर करने की तकनीक बताना बाकी है लेकिन अर्जुन के चेहरे पर यही भाव उभरे होंगे कि इतना सब करके फायदा क्या होगा। अतः भगवान अगले चार श्लोकों में ध्यान योग से होने वाले लाभ के विषय में बताते हैं।

सारांश रूप में अगले चारों श्लोक का अर्थ है–योग की स्थिति में संयमित मन शांति पाता है आत्मा का ज्ञान मनुष्य को परम संतोष देता है। यह स्थिति इन्द्रियों की क्षमता से परे बुद्धि द्वारा ग्राह्य है और अत्यंत सुख देने वाली है। इस स्थिति में पहुंचने के बाद मन चलायमान नहीं होता। उसे कोई भी लाभ इससे अधिक नहीं लगता। यह स्थिति दुख से रहित है। इसमें स्थिर

साधक को महानतम दुख भी विचलित नहीं कर पाता। इस योग का अभ्यास बिना ऊबे, दृढ़ता, पूर्वक करना चाहिए।

अब हम एक-एक श्लोक का अर्थ समझने का प्रयास करें।

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ।।२०।।

जिस अवस्था में योग सेवन के द्वारा निरुद्ध हुआ चित्त विषयों से उपरामता प्राप्त करता है तथा जिस अवस्था में अपने भीतर अपने आत्मस्वरूपता को देखता हुआ अपने आप में ही संतुष्ट रहता है।

ध्यान की अवस्था में मन शांति पाता है और आत्म ज्ञान के कारण परम संतोष का अनुभव करता है। वास्तव में मन की अशांति का कारण है विचारों की अधिकता, उनका विरोधाभास और उनके साथ अपना बहाव तथा तादात्म्य। मन परस्पर विरोधी विचारों के कारण कभी एक ओर झुकता है, कभी दूसरी ओर। और हम इन विचारों में इतने बह जाते हैं कि क्षण में दु:खी, क्षण में सुखी, पल में निराश और अगले पल ही उत्साहित होते रहते हैं। हमें पता भी नहीं चलता। सिनेमा के पर्दे पर डरावना दृश्य देखकर हम भय से पीले पड़ जाते हैं, अचानक सीन बदल जाता है और कामेडियन हमें हंसाने लगता है। हीरो को तड़पते देखकर हमारी आंखों में आंसू आ जाते हैं और विलेन को मरते देखकर हम संतोष की सांस लेते हैं। यह सब उन दृश्यों के साथ हमारी तादात्म्यता के उदाहरण हैं जो हमें अपने साथ बहा ले जाते हैं और सुखी-दुखी करते हैं। जब अच्छी तरह झूठा जानते हुए भी पर्दे पर दूसरों की भावनाओं के साथ तादात्म्यता हमें इस तरह दुखी-सुखी कर सकती है तो अपने विचारों के साथ तादात्म्यता तो हमें अशांत और पागल बनाएगी ही। लेकिन ध्यान के समय हम विचारों को 'देखने' का प्रयत्न करते हैं, इससे हमारी तादात्म्यता कम होती है और उनका प्रभाव हमारे ऊपर पड़ना कम होने लगता है।

धीरे-धीरे हम इन चित्तवृतियों का निरोध करते हैं। उन्हें परे हटा कर मन को एकाग्र करने के प्रयत्न में हमें स्वयं अनुभव होगा- ये मेरे विचार

हैं, मुझे तो इन्हें देखना है, इनसे निर्लिप्त, निस्पृह रहना है और तब विचार उठेगा- 'यानी मैं विचारों से भिन्न कुछ और हूं। मेरा वास्तविक स्वरूप न मन के ये संकल्प विकल्प हैं, न बुद्धि के ये खेल। तब मेरा सत्य स्वरूप क्या है? यही सत्य स्वरूप अर्थात् आत्मा का ज्ञान साधक को परम संतोष देता है। हमें इनका प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। इस स्थिति में आत्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं रहता। वही परमात्मा केवल अपने में ही नहीं, सम्पूर्ण चराचर जगत में दिखाई देने लगता है। तब कोई पराया नहीं रह जाता। जब मनुष्य अपनों के बीच होता है तो उसे कितना संतोष रहता है। यहां पहुंचकर सभी अपने हो जाते हैं। योगी अपनी वास्तविक स्थिति को पा जाता है, मानो वर्षों से भटका हुआ लड़का अपने घर लौट आया हो। यह स्थिति परम आनन्द की है। भगवान इसके लिए तुष्यति शब्द का व्यवहार करते हैं। क्योंकि मन ऐसा तृप्त हो जाता है कि उसे विषय जगत के किसी खेल-खिलौने की चाह नहीं होती।

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः।।२१।।

यह अवस्था इन्द्रियों से परे आत्यन्तिक आनन्द की है जिसे शुद्ध की हुई बुद्धि द्वारा जाना जा सकता है तथा जिस अवस्था में स्थित हुआ योगी स्वरूप से तनिक भी चलायमान नहीं होता।

साधारणतः हम सुख के नाम पर उस अनुभूति को जानते हैं जो हमें एयर कंडीशन में बैठ पकौड़े खाते हुए अपनी पसन्द की फिल्म देखने में मिलता है अर्थात् इन्द्रियों द्वारा विषयों के भोग से प्राप्त होता है। यह इन्द्रिय जनित सुख है। इससे ऊंचा सुख है भावनात्मक सुख। हम अपने प्रिय से मिलने के लिए क्या नहीं कर सकते। इन्द्रिय सुख के त्याग की तो बात ही क्या, कितनी तकलीफ उठाकर एक बार 'जी भर कर देख लेने' का प्रयत्न करते हैं।

मन के इस भावनात्मक सुख से बड़ा बुद्धि का सुख है जिसका अनुभव कुछ ही ऐसे लोगों को होता है जो अपने आदर्श, अपने लक्ष्य के

लिए इतने समर्पित होते हैं कि न उन्हें शरीर की सुध होती है, न अपने रिश्ते-नाते परिवार वालों की। इन श्रेणी में कलाकार, वैज्ञानिक, देशभक्त आदि आते हैं। यही सुख अर्किमिडीज को 'युरेका-युरेका' कहते हुए शहर की सड़कों पर निवस्त्र दौड़ा देता है।

इससे भी उच्च है आत्मा को सुख जो विरले योगियों को होता है। यह अतीन्द्रिय सुख है। लेकिन हम इससे यह न समझ लें कि जब इसका अनुभव हम कर ही नहीं पाएंगे तो इसके पीछे भागने का क्या लाभ? इस संशय को दूर करने के लिए भगवान कहते हैं कि भले ही यह सुख इन्द्रियों का विषय नहीं है, पर शुद्ध हुई बुद्धि द्वारा ग्रहण करने योग्य है, अतः संशय-संदेह त्याग कर इसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए।

यहां कुछ विरोधाभास जान पड़ता है। जब यह सुख बौद्धिक सुख से भी परे हैं तो फिर इसे बुद्धि द्वारा ग्रहण कैसे किया जा सकता है। अतः इस शब्द को समझ लेना आवश्यक है। मान लें कि हम अपने मित्र के घर गए। दस किलोमीटर दूरी कार से तय करके हम घर के बाहर कार खड़ी करेंगे और पैदल अन्दर आएंगे। मित्र के पूछने पर यही कहेंगे कि मैं कार से आया हूं। इसमें असत्य कुछ नहीं क्योंकि यात्रा का अधिकांश भाग हमने कार द्वारा तय किया है। उसी प्रकार ध्यान योग की यह यात्रा साधक बुद्धि के द्वारा ही तय करता है। यह सत्य है कि यह अवस्था बुद्धि से परे है, इतना ही नहीं कार की भांति बुद्धि को पीछे छोड़ देने के बाद ही इस भव्य द्वार में प्रवेश किया जा सकता है, किन्तु इस द्वार तक पहुंचने के लिए हमारा वाहन बुद्धि ही है। बुद्धि को सजग-सचेत रख, बुद्धि द्वारा मन को अनुशासित कर ही हम ऐसी स्थिति को पा सकते हैं जब जीवात्मा अपने सारे बंधनों को तोड़ परमात्मा में समाहित होने को मचल उठे, जहां यह सारा संसार और इसके तमाम भोग-विलास तुच्छ लगने लगें, जहां हमारे सामने एक ही लक्ष्य दिखाई पड़े- परम सत्य के ज्ञान का। इस नित्य, शाश्वत, अखण्ड आनन्द की चाह इतनी बलवती हो जाए कि अब तक जिन अस्थायी, क्षणिक सुखों की चकाचौंध से पागल होकर हम इधर-उधर भटक रहे हैं, उसकी निस्सारता समझ में आने लगे। जब मन की सारी कामनाएं, इच्छाएं, भावनाएं और विचार एक आराध्य के चरणों में केन्द्रित हो जाए, जब मन कातर होकर पुकार उठे- गोविन्द मेरे तो तुम ही हो। यह सब तभी हो सकता है जब हम

श्रद्धा के साथ-साथ बुद्धि का उपयोग कर भगवान के कथनों का सही समझे और उन्हें जीवन में उतारने का प्रयत्न करें।

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ।।२२।।

जिस (आत्मसाक्षात्कार रूपी लाभ) को प्राप्त कर योगी दूसरे किसी लाभ को उससे अधिक नहीं समझता तथा जिस अवस्था में स्थित होने पर वह भारी दुःख से भी विचलित नहीं होता।

ऐसा नहीं कि एक बार समाधि लगने पर मनुष्य के जीवन में सुखों की वृष्टि होने लगती है दुःख और कष्ट आते ही नहीं। वे तो आते ही रहते हैं, लेकिन योगी उनसे विचलित नहीं होता। वे उसे दुःखी, कुंठित, हतोत्साहित नहीं करते, उसे शराब या नींद की गोलियों का सहारा नहीं लेना पड़ता। वह हंसते हुए, शांतिपूर्वक, धैर्य के साथ इनका सामना करता है, क्योंकि उसे लगता है- सबसे कीमती रत्न तो मेरी मुट्ठी में है।

गीता में आरम्भ से ही भगवान की नीति यही रही है कि अर्जुन स्पष्ट समझ ले- समस्याएं कभी समाप्त नहीं होंगी। हमें ऐसी अव्यवहारिक चाह नहीं करनी चाहिए। हमें तो ऐसी क्षमता प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए कि हम समस्याओं से विचलित न हों और इनका डट कर मुकाबला कर सकें। तब जीत सुनिश्चित है। ध्यान योग हमें वह अद्‌भुत शक्ति प्रदान करता है कि हम समस्याओं के बीच भी धीरज रखकर जीवन व्यतीत कर सकें।

इस संदर्भ में महात्मा गांधी की एक उक्ति उल्लेखनीय है-'राम नाम किसी पंगु युवक की टूटी टांग जोड़ देने का जादू तो नहीं करता, किन्तु इससे भी बड़ा जादू यह कर सकता है कि टांग टूटी होने के बावजूद वह अनन्त शांति का उपभोग कर सके।'

मन की शांति ही सारी समस्याओं को सुलझा देती है और मन की अशांति ही ढेरों समस्याएं पैदा कर देती है। हमें कोई लाभ मिलता जान पड़े

तो हम छोटे-मोटे कष्ट और असुविधाएं हंसते-हंसते सह लेते हैं। योगी को इतना बड़ा लाभ मिलता है कि संसार के हर कष्ट या दु:ख उसे मामूली ही जान पड़ते हैं।

भगवान इन श्लोकों में ऐसी स्थिति का वर्णन कर रहे हैं जो वास्तव में शब्दों द्वारा व्यक्त की ही नहीं जा सकती। 'यस्मिन स्थितो न दु:खेन गुरुणापि विचाल्यते' कहने पर भगवान को संतोष नहीं होता। वे इसका और स्पष्टीकरण करते हैं।

तं विद्याद् दु:खसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ।।२३।।

जो दु:ख के संयोग से रहित है उसे योग समझना चाहिए। इस योग को बिना उकताए हुए चित्त से निश्चयपूर्वक करना चाहिए।

हमारे जीवन का कोई भी अनुभव ऐसा नहीं जिसमें दु:ख का संयोग न हो। धन प्राप्ति के सुख के साथ उसकी सुरक्षा का कष्ट, पुत्र प्राप्ति के साथ उसके लिए रातों जागने का दुख जुड़ा हुआ है। हम इस दु:ख संयोग के ऐसे अभ्यस्त हो गए हैं कि हममें इसकी संवेदना नहीं रही। जैसे मछली मारने वालों के मुहल्ले में कोई नया व्यक्ति चल जाए तो दुर्गन्ध से उसकी नाक फटने लगेगी, पर उनलोगों को इसकी ऐसी आदत पड़ जाती है कि गंध का अनुभव ही नहीं होता। किन्तु आत्म-ज्ञान का अनुभव हमारे समान्य अनुभवों से बिल्कुल भिन्न है। इसमें दु:ख लेशमात्र भी नहीं। इस अवस्था में दु:ख के संयोग से पूर्ण वियोग होता है, क्योंकि दु:ख का अनुभव करने वाले हमारे शरीर मन बुद्धि है जो कि इस समय होते हुए भी नहीं है।

इस प्रकार उपरोक्त चार श्लोकों में योग की गरिमा का वर्णन करते हुए श्रीकृष्ण अन्त में हमें फिर उत्साहित करते हैं कि इस अनन्त आनन्द का लाभ पाने के लिए अथक परिश्रम करने को तत्पर रहें। मन घबराएगा, व्याकुल होगा, लेकिन निरुत्साहित न हों, लक्ष्य के प्रति समर्पण और गुरु वचनों के प्रति श्रद्धा रखें ओर प्रयत्न करते रहें। जिसमें लगन होती है सफलता अवश्य उसके कदम चूमती है।

इस प्रकार अर्जुन को उत्साहित करने के बाद भगवान एक बार पुनः ध्यान योग की व्यवहारिक समस्याओं एवं उनके निराकरण की तकनीक पर आ जाते हैं। भगवान बार-बार कहते रहे हैं- मन को संयमित करो, उसे शांत करो, उसे मुझमें लगाओ, मेरे परायण होकर बैठो, इत्यादि। अब वे बताएंगे कि मन को संयमित करने के लिए क्या करना चाहिए। मन की अस्थिरता का सबसे बड़ा कारण तो काम ही है, लेकिन इस काम को एक झटके से छोड़ा तो नहीं जा सकता, अतः भगवान व्यवहारिक कला बताते हैं।

संकल्प प्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ।।२४।।

संकल्प से उत्पन्न होने वाली समस्त कामनाओं को पूरी तरह त्याग कर मन के द्वारा इन्द्रिय समुदाय को सभी ओर से अच्छी तरह नियंत्रण में लाएं।

पहले ही बताया जा चुका है कि ध्यान केवल आधे घंटे बैठने की क्रिया नहीं है। प्रारम्भिक अवस्था में तो ध्यान के आसन को डायग्नोस्टिक सेंटर अर्थात् जांच घर समझना चाहिए। इन जांच घरों में रक्त आदि के परीक्षण द्वारा पता चलता है कि रोग क्या है, फिर हम उसके इलाज में लगते हैं। इसी प्रकार शुरू-शुरू में ध्यान के लिए बैठते हैं तो हमें पता चलता है कि हमारा रोग है अनगिनत कामनाएं। अब इन कामनाओं को एकबारगी छोड़ा कैसे जाय। सभी कामनाओं का पूर्णतः त्याग कर देंगे तो हमारे जीवन में रह क्या जाएगा। अपने कर्त्तव्य ओर लक्ष्य प्राप्ति का विचार भी तो करना ही है, अपने जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक वस्तुओं का चिंतन भी तो कामना ही है। ध्यान की चरम अवस्था में सब छूटेगी ही परन्तु अभी तो बात हम साधारण लोगों की है जो करोड़ों-करोड़ों कामनाओं से बंधे हुए हैं।

व्यवहारिक बात यही है कि पहले उन्हें छोड़ा जाए तो परेशान ज्यादा करते हैं और हैं निकम्मे। यहां भी भगवान सलाह दे रहे हैं कि कामनाओं के त्याग का प्रारम्भ ऐसी कामनाओं से करें जो संकल्प के प्रभाव से उत्पन्न

होती है। इन्हें पूरी तरह से छोड़ दें। सर्वान् अर्थात् सभी, अशेषत: अर्थात् एक भी बाकी न रहे, इस प्रकार दो समानार्थी शब्दों का प्रयोग भगवान ने अपनी बात पर जोर देने के लिए किया है।

आइए देखें संकल्प से उत्पन्न कामनाएं क्या होती हैं और कैसे कार्य करती है। जब हम खरीददारी करने बाजार जाते हैं तो लिस्ट के अनुसार जरूरत का सामान खरीदने में हमें कोई परेशानी नहीं होती लेकिन बच्चे के लिए दूध की शीशी खरीदते वक्त हमारी नजर बगल की दुकान में सजे मोतियों के हार पर पड़ जाती है और हमारा मन कल्पना करने लगता है– 'इस हार को पहन कर मैं कितनी सुन्दर लगूंगी।' इसी प्रकार अनेकों वस्तुएं दिखती रहती है, हमारा मन चंचल होता रहता है और बाजार जाते वक्त जितनी लम्बी लिस्ट लेकर गए थे उससे लम्बी लिस्ट आने तक बन जाती है। हमारी तकलीफ और मानसिक यंत्रणा का दौर शुरू हो जाता है। ध्यानासन की तो बात छोड़ दीजिए, बाकी समय भी हमारा परेशानी में कटता है। उन सामानों के लिए रुपये चाहिए जिसके लिए पतिदेव को तंग किया जाता है और चूंकि ये वस्तुएं आवश्यक भी नहीं है अत: इसके लिए रुपये देने को पति तैयार भी नहीं होते। जो कामनाएं दिन रात हमें अशांत कर देती हैं वे भला ध्यान के समय कैसे चुप बैठ सकती है। अत: सबसे पहले तो इन कामनाओं में न बहने का कठोर निर्णय लें। इससे हमारे रोजमर्रा के जीवन में भी बेहद शांति आ जाएगी और हमें आत्म नियंत्रण करना आएगा। जिन बातों को सोचना निरर्थक है उन बातों की ओर से मन जाने लगे तो उसे रोकें। हम मन की मांगों को ठुकराना सीखेंगे।

अब अगला कदम है इस मन के द्वारा इन्द्रियों को संयमित करना। इन्द्रियों की समस्त क्रियाओं का वास्तविक कर्ता मन ही होता है। जब हमारा मन 'कहीं और' होता है तो सामने से गुजरा हुआ व्यक्ति हमें दिखाई नहीं देता। अत: मन नियंत्रित हो जाए तो हम इन्द्रियों की मांग को नियंत्रित कर सकते हैं। अभी तक हमने कभी आत्म नियंत्रण की बात सोची ही नहीं थी। हमने जाना ही नहीं था कि दु:ख का कारण मोतियों के हार की अनुचित लालसा है। हम तो यही समझते रहे कि दु:ख का कारण पति के रुपये देने से इंकार करना है। गलती उसकी है, मेरी नहीं। अब समझ के साथ–साथ कुछ मन की मजबूती आई है तो अपनी रसना पर, अपनी वाणी पर, अपनी

अन्य इंद्रियों पर संयम करना आएगा। लेकिन यह नियंत्रण तुरंत नही हो सकता। भगवान भी धीरे-धीरे इस ओर बढ़ने की सलाह देते हैं।

शनैः शनैः रुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ।।२५।।

धैर्य युक्त बुद्धि द्वारा मन को धीरे-धीरे आत्मा में स्थिर करके योगी तनिक भी न सोचे।

धीरे-धीरे मन को शांत करने का अभ्यास करें। इस कार्य के लिए धैर्य आवश्यक है। जैसे गर्भस्थ शिशु को परिपक्व होने के लिए नौ मास का समय चाहिए उसी प्रकार मन को भी परिपक्व होने के लिए समय चाहिए। आज तक वह जिन खेल खिलौने में उलझा रहा है उन्हें एकाएक छोड़कर वह रह ही नहीं सकता। वह तो और अधिक अशांत हो जाएगा। यदि कोई बालक पन्द्रह साल का हो जाने पर भी गुड्डे गुड्डियों जैसे खिलौने से खेलता रहे तो उसके खिलौने छीन कर फेंक देने से वह सुधर नहीं जाएगा। बुद्धिमान माता पिता इसके लिए दो उपाय काम में लेंगे। एक तो उसे समझाएंगे कि अब वह बड़ा हो गया है, इन खिलौनों के लायक नहीं। साथ-साथ दूसरा तरीका अपनाएंगे। उसकी उम्र के लायक खेल सामग्री या पुस्तकें लाकर देनी होंगी। इनमें आनन्द आएगा तो गुड्डे गुड्डियों की चाह स्वयमेव समाप्त हो जाएगी। ऐसा होना अत्यन्त स्वाभाविक है। छोटा बच्चा मां की गोद ही चाहता है। फिर खिलौनों का आनन्द गोद छुड़वा देता है। बड़े होने पर मित्रों में अधिक आनन्द आता है और खिलौने छूट जाते हैं।

भगवान इस श्लोक में ऐसी ही व्याहारिक सलाह देते हैं कि संकल्पों से छुड़ाने के लिए मन को बुद्धि के नियन्त्राण में लाओ और आत्मा में स्थिर करो। आत्मा में स्थिर करने का कार्य हम अपनी रुचि के अनुसार आत्मा के सत्य स्वरूप यानि 'मैं कौन हूं' के विचार में लगाकर कर सकते हैं या प्रभु के नाम स्मरण में।

जैसे-जैसे मन की स्थिरता बढ़ेगी, बाहरी संसार में उसका विचरण कम होगा। धीरे-धीरे ऐसी अवस्था आएगी कि मन को बहा ले जाने वाला

कोई विचार नहीं रह जाएगा। यह इस यात्रा का वह पड़ाव है जहां तक पुरुषार्थ काम कर सकता है, इसी लिए गुरु की दी हुई व्यावहारिक सलाह भी यहीं तक पहुंचने के लिए होती है। इसके बाद साधक के करने का कुछ नहीं रह जाता। अखण्ड आनन्द का द्वार अपने आप खुल जाता है और साधक योग की उस स्थिति को पा लेता है जिसमें अत्यन्त सुख और अपार संतोष है, जिसमें दुख का संयोग नहीं, जिसे पाकर फिर किसी दूसरी चीज में अधिक लाभ नजर नहीं आता और जिस स्थिति में एक बार पहुंच जाने के बाद स्थाई लाभ मिलता है।

लेकिन यह मन तो बहुत ही चंचल है। भगवान कह रहे हैं न किंचित् अपि न चिन्तयेत्, पर मेरे मन में विचारों का सागर उमड़ा जा रहा है। कैसे उसे बुद्धि के अनुशासन में लाया जाए? कैसे उसे आत्मा में स्थिर किया जाए? भगवान बताते हैं:-

यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम् ।
ततस्तो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ।।२६।।

यह चंचल और अस्थिर मन जहां जहां जिस जिस विषय की ओर भागे उसे वहां वहां से रोक कर आत्मा में ही केन्द्रित करके वश मे ले आवें।

यही गीता द्वारा बताई गई साधना प्रणाली है जिसे अभ्यास कह सकते हैं। मन इधर उधर भागेगा ही। यह न सोचें कि ऐसे विचार क्यों आ आ रहे हैं, छि: कैसे गंदे विचार हैं। इस प्रकार सोचने से तो हम इनमें बह जाएंगे। हमें तो सजग बुद्धि द्वारा मन को पकड़कर फिर से आत्मा में अर्थात् आत्मचिंतन या जप में बैठा देना है।

यह श्लोक बहुत अच्छी तरह समझ में आएगा जब हम किसी मंत्री महोदय की जन सभा की कल्पना करेंगे। पुलिस लाठी लिए सतर्क खड़ी रहती है। आस पास के स्थानों से बसों में भर-भर कर लाए व्यक्ति घंटों से प्रतीक्षा कर रहे हैं। थका व्यक्ति पानी पीने के लिए भी नहीं उठ सकता। जरा सा सर ऊंचा किया नहीं कि पुलिस का डंडा उसके सर पर सवार हो जाता है और बेचारे को बैठना पड़ता है। मन भी जब जप करना आरंभ करे तो

बुद्धि को प्रहरी बना कर खड़ा कर दें। जहां मन राम-राम छोड़कर राम राव को उधार दिए रुपयों की चिंता करना शुरु करे, सजग बुद्धि से उसे तुरंत टोक दें- राम राव नहीं राम राम करो। इस प्रकार इधर उधर दौड़ते मन को बार बार वापस खींच कर लाना होगा।

लेकिन कभी मंत्री महोदय की सभा में डंडा लेकर खड़ा पुलिसकर्मी किसी दर्शक के साथ खैनी खाने लगता है और सभा में गड़बड़ शुरु हो जाती है। लेकिन जब किसी अधिकारी द्वारा उसकी गलती या काम चोरी पकड़ी जाती है तो वह डंडा लेकर फिर खड़ा हो जाता है। हम भी पाएंगे कि कुछ देर तो बुद्धि ने मन को पकड़ने का कार्य किया उसके बाद वह स्वयं भी बह चली। ज्योंहि हम बुद्धि की इस असावधानी को पकड़ लेंगे, वह झट से फिर मन को घेरने का कार्य शुरू कर देगी। कुछ क्षण बाद यही गलफत फिर होगी। आरम्भ में मन के भागने का और उसे पकड़ कर लाने का क्रम इतना अधिक होता है कि अधिकांश साधक ऊब कर साधना छोड़ देते हैं, पर जिनमें धैर्य होता है वे लगे रहते हैं। धीरे-धीरे सुधार होता है। मान लीजिए कि मेरा मन हर दो सेकेन्ड में भागे और एक मिनट बाद ध्यान आता हो कि यह भाग गया है तो कुछ दिनों बाद शायद भागने का औसत समय तीन सेकेन्ड हो जाए और आधे मिनट बाद पकड़ में आने लगे। धीरे-धीरे जप अर्थात् आत्मा में 'बैठने' की अवधि बढ़ेगी। एक समय ऐसा आएगा कि मन ने जहां भागने का विचार किया वहीं पकड़ा जाएगा अतः भाग नहीं पाएगा। इसी एकाग्रता तक हमें प्रयत्न करके पहुंचना है। इसके बाद की स्थिति अपने आप आती है।

प्रशान्त मनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्त रजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ।।२७।।

जिसका मन भली भांति शांत हो, जिसके राजसी विकार शांत हो गए हों, ऐसे निष्पाप एवं ब्रह्मभाव को प्राप्त हुए योगी को उत्तम सुख मिलता है।

यहां उत्तम सुख की प्राप्ति के लिए चार शर्तें बताई गई हैं -

१. जिसका मन प्रशांत हो। २. जिसके विकार शांत हो। ३. जो

ब्रह्ममय हो। ४. जो निष्पाप अर्थात् वासना से मुक्त हो।

सुख और मानसिक अशांति एक दूसरे के विपरीत हैं। ऐसा कोई नहीं कहता कि मेरे मन में बहुत सी चिंताएं हैं पर मैं सुखी हूं। मन में जितने विचार, जितनी चिंताएं, जितने विकार, जितने संकल्प, जितनी कामनाएं होंगी, हम सुख से उतने ही दूर होंगे। यानि अधिक अशांति = अधिक दुख = कम सुख एवं कम अशांति = कम दुख = अधिक सुख। और अशांति बिल्कुल नहीं होने का अर्थ है, दुख का अंत और अत्यन्त उत्तम सुख की प्राप्ति।

इससे यह स्पष्ट होता है कि ऐसी बात नहीं कि ध्यान का लाभ हमें पूर्ण समाधि के बाद ही मिलेगा। यह तो मजदूरों की मेहनत सरीखा है, जिसमें जितनी मेहनत उतना लाभ उसे प्रतिदिन मिलता है। जैसे पहले भगवान ने बताया कि जैसे जैसे मन विचारों में भागे वैसे वैसे उसे वापस लाकर आत्मा में स्थिर करने का प्रयास करो। धीरे-धीरे मन शांत होने लगेगा। मन की शांति जितनी बढ़ेगी उतना ही हम अपने आप को सुखी अनुभव करेंगे। जहां मन सौ विचारों में भटकता था वहां बीस में भटके तो हमें आत्म ज्ञान भले ही नहीं होगा पर पहले की अपेक्षा अशांति यानि दुख में कमी और सुख में वृद्धि जरूर होगी।

यहां तो भगवान चरम स्थिति का वर्णन कर रहे हैं जहां एक भी विचार नहीं, एक भी विकार नहीं। मन तो विचारों के प्रवाह को ही कहते हैं, जहां विचारों के प्रवाह नहीं वहां मन भी नहीं। मन के विलुप्त होने पर ही साधक आत्म साक्षात्कार की उस परम अवस्था को प्राप्त करता है जहां जाकर यह प्रत्यक्ष ज्ञान होता है कि मैं आत्मा हूं और परमात्मा से अभिन्न हूं। जो आत्मा मुझमें है वही सब प्राणियों में है। मैं क्षुद्र जीव नहीं बल्कि सच्चिदानन्द ब्रह्म हूं। साधक का ब्रह्ममय होना इसे ही कहते हैं।

इसी विचार को भगवान अगले श्लोक में और स्पष्ट करते हैं:-

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगत कल्मषः ।
सुखेन ब्रह्म संस्पर्शं अत्यन्तं सुखमश्नुते ॥२८॥

योगी इस प्रकार योगाभ्यास करता हुआ पाप रहित हो जाता है उसे आसानी से ब्रह्म प्राप्ति के फलस्वरूप आत्यन्तिक सुख की प्राप्ति हो जाती है।

पिछले श्लोक में तथा इस श्लोक में भी भगवान ने अकल्मषः शब्द का व्यवहार किया है। अकल्मषः का अर्थ है निष्कलंक, यानि जिसमें जरा भी कलुष न हो अर्थात् जिसके हृदय में वासना न हो। मनुष्य का सत्य स्वरूप आत्मा तो कलुष रहित है ही। वासना का कलुष तो बाहरी लेप है जिसके कारण मनुष्य को ऐसा लगने लगता है कि वह एक क्षुद्र, पापी, दुखी, अशांत कर्ता या भोक्ता है। ये वासनाएं ही कामनाओं को जन्म देकर किसी खास कार्य के लिए बार-बार प्रेरित करती हैं। किसी की वासनाएं उसके हृदय में बार-बार चाट खाने के लिए कामना जगाती है तो हम उसे चटोरा कहने लगते हैं, किसी की वासनाएं उसे झगड़ा करने के लिए प्रेरित करती है तो हम उसे झगड़ालू कहते हैं। जिसकी वासना उस दूसरों की सहायता के लिए प्रेरित करती है वह परोपकारी कहलाता है। जो वासनाएं हमारे मन को अशांत कर देती है, जिनके कारण हम स्वयं पछताते और अपने आप को धिक्कारते हैं (भले ही ऊपर से अकड़े रहें) उन्हें पाप या कल्मष कहते हैं। गेहूं के अंकुर की भांति इन्हीं पाप प्रवृत्तियों से नीच कर्म करने की कामना होती है जिससे हम अधिकाधिक नीचे गिरते हैं। लेकिन गेहूं को आग में थोड़ा भून दिया जाए तो फिर अंकुर नहीं निकलता, इसी प्रकार वासना जब ध्यान की अग्नि में तप्त हो जाती है तो वह कामना को जन्म नहीं दे पाती। इस प्रकार पापी व्यक्ति भी ध्यानाभ्यास से पाप रहित, निर्मल, विगत कल्मष बन जाता है। यहां तक हमारा पुरुषार्थ है। यह श्रमसाध्य और कठिन है इस अवस्था को सविकल्प समाधि कहते हैं।

भगवान कहते हैं ऐसा विगत कल्मष योगी सुखेन अर्थात् सहजता से, बिना कष्ट किए ब्रह्मस्पर्श प्राप्त कर लेता है। तात्पर्य यह है कि हमें तो बस अपने मन को निर्मल करने का प्रयत्न करना है। उसके बाद हमें कुछ नहीं करना होता। सम्पूर्णता की अगली अवस्था सहज ही प्राप्त हो जाती है जिसे निर्विकल्प समाधि कहते हैं। यह अत्यन्त सुख की अवस्था है।

अभी की स्थिति में तो हम एक ही प्रकार के सुख को जानते हैं- इच्छापूर्ति से मिलने वाला सुख। पहले तो इच्छा के कारण हम दुखी होते हैं। फिर उसकी पूर्ति के लिए एड़ी चोटी का जोर लगाते हैं और पूर्ति होने पर जब इच्छा समाप्त हो जाती है तो हम समझते हैं ''मजा आ गया।'' यह मजा तो कुछ ऐसा है कि कोई व्यक्ति अपनी पत्नी से कहे-मुझे खूब पीटो। पिटते-पिटते अंग दुखने लग जाए तो उसी से तेल मालिश करवाए। यह मालिश उसे बहुत सुखदायक लगेगी लेकिन क्या यह निरी मूर्खता नहीं!

हमें इच्छापूर्ति से मिलने वाले झूठे सुख की नहीं, सच्चे, उत्तम, आत्यन्तिक सुख की तलाश है जिसका आश्वासन श्लोक की दूसरी पंक्ति में दिया गया है।

इस स्थिति को पाने के बाद योगी का व्यवहार कैसा हो जाता है यह भगवान अगले श्लोक में बताते हैं।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योग युक्तात्मा सर्वत्र समदर्शिनः ।।२९।।

योग युक्त पुरुष सभी प्राणियों में अपने को और अपने में सभी प्राणियों को देखता हुआ सर्वत्र समदर्शी होता है।

जब मनुष्य ध्यान योग के द्वारा शरीर मन बुद्धि के जंजाल से मुक्त होकर आत्मा में निवास करने लगता है तभी उसे ज्ञान होता है कि आत्मा केवल उसका ही नहीं, सभी प्राणियों का सत्यस्वरूप है अर्थात् सभी प्राणी वस्तुतः एक ही हैं। उसमें और दूसरे प्राणियों में कोई अन्तर नहीं है।

जब सारी सृष्टि को एक ही ब्रह्म में समाया हुआ, और एक ही ब्रह्म को सारी सृष्टि में देख लिया तो फिर कौन किससे भिन्न हो सकता है? यही है समदर्शी दृष्टि। जैसे हम अपने शरीर के सभी अंगों के प्रति समदर्शी होते हैं क्योंकि शरीर के सभी अंगों में हम स्वयं हैं, सभी अंग हमारे ही शरीर में हैं। हाथ, कान, नाक, किसी में भी पीड़ा हो, हमें कष्ट होता है, हम जल्दी से जल्दी उसका उपचार करते हैं। तकलीफ चाहे साधारण खुजली की ही

क्यों न हो, हाथ कभी पैर से नहीं कहता कि मैं क्यों खुजली करुं। हाथ में कांटा चुभ जाए तो पैर कभी नहीं कहता कि मैं क्यों चलते-चलते रुकूं। ऐसा सुन्दर सामंजस्य कैसे आता है? क्योंकि हम जानते हैं कि पैर भी मैं ही हूं, हाथ भी मैं ही हूं। हाथ और पैर वास्तव में एक दूसरे से पृथक् हैं ही नहीं। यह भाव इतना अधिक दृढ है कि हमें सोचने की मेहनत नहीं करनी होती।

यही भाव जब सृष्टि के सभी प्राणियों के साथ आ जाता है तो सामंजस्य ही सामंजस्य है। फिर घृणा, ईर्ष्या, द्वेष, छल, कपट आदि विकार मन से अपने आप लुप्त हो जाते हैं। अपने आप से कैसी घृणा, कैसा बदला! क्या कभी हाथ पैर को मारता है कि तुम मुझे कांटों के बीच क्यों ले गए? क्या हमारे अंग में कोई विकृति हो तो हम उसे काटकर अलग कर देने की बात सोचते हैं? हम तो उसका और अधिक ध्यान रखते हैं। प्रेम से उसका उपचार करते हैं।

एक व्यक्ति शीशे के हॉल में गया। चारों ओर तरह-तरह के शीशे लगे थे। उसे अपनी दो हजार परछाइयां दिखलाई दे रही थी। कोई मोटा, कोई पतला, कोई लम्बा और कोई रूप अत्यन्त टेढ़ा मेढ़ा भी था। दो हजार की भीड़ में वह नर्वस नहीं हुआ। टेढे मेढे रूप से उसे घृणा नहीं हुई क्योंकि वह जानता है कि ये सब उसके ही बिम्ब हैं। सत्य स्वरूप तो वह स्वयं है जिसमें कोई विकृति नहीं। विविधता का कारण दर्पणों की भिन्नता है। विविधता के इस खेल को देखकर वह मुस्कुराता है। उसके मुस्कुराते ही दो हजार व्यक्ति एक साथ मुस्कुरा उठते हैं और हॉल का महौल बड़ा खुशनुमा बन जाता है। इतने में उसका कुत्ता अन्दर आ जाता है। दो हजार कुत्तों को देखकर वह परेशान हो जाता है। वह आंखें निकालता है। उसे लगता है सभी उसकी ओर आंखें निकाल रहे हैं। वह गुर्राता है तो सभी गुर्राते हैं, वह एक कुत्ते पर झपटता है तो सभी उस पर झपट पड़ते हैं। वह कभी एक शीशे पर कूदता है कभी दूसरे शीशे पर। शीशे चकनाचूर होते जाते हैं वह लहुलुहान होता जाता है। अंत में वह घायल होकर फर्श पर गिर पड़ता है और दम तोड़ देता है।

हम मानव होकर भी अज्ञानता वश कुत्ते की दृष्टि रखे हुए हैं। संत महात्मा हमें बताते हैं कि सभी प्राणियों में एक ही परमात्मा है लेकिन जब

तक हम स्वयं इसका अनुभव नहीं कर लेंगे यह 'हमारा ज्ञान' नहीं हो सकता। हम सबको अपना मान नहीं पाते। सभी हमारे ही विभिन्न स्वरूप हैं पर हमें लगता है सब हमारी ओर आंखें निकाल रहे हैं, गुर्रा रहे हैं। हम उनसे लड़कर उन्हें कुचल देना चाहते हैं। इस संघर्ष और आपाधापी में केवल पीड़ा, कष्ट, दुख और थकान ही हाथ आती है।

ध्यान योग से आत्म ज्ञान होगा। आत्म ज्ञान से समदर्शिता आएगी और समदर्शिता के साथ जगत के सभी प्राणियों के साथ समन्वय अपने आप हो जाएगा। हमारे मन में किसी के लिए कलुषता नहीं रहेगी।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ।।३०।।

जो मुझ (आत्म स्वरूप) को सब जगह देखता है तथा सबमें मुझको देखता है उसके लिए मैं ओझल नहीं होता और वह मेरे लिए लिए ओझल नहीं होता।

यहां भगवान के द्वारा प्रयोग किए गए मैं का अर्थ आत्मा या परमात्मा लगाएं तो श्लोक का अर्थ स्पष्ट हो जाएगा। जो मनुष्य सब जगह यानि सबमें एक ही परमात्मा को पहचानता है, अपनी आत्मा में भी उसी परमात्मा को जानता है वह कभी परमात्मा से दूर नहीं होता न परमात्मा उससे दूर होते हैं।

अपनी वर्तमान अवस्था में हम सब कीड़ों की भांति अपने अपने अहंकार के खोल में घुसे बैठे हैं। इस शरीर मन बुद्धि तथा इनके भोगों, भावनाओं और विचारों से परे कुछ और भी है यह हम जानते ही नहीं हमारा वास्तविक स्वरूप यह शरीर नहीं बल्कि आत्मा है यह समझने का प्रयत्न हम करते ही नहीं। जब हम अपने आप को ठीक-ठीक नहीं जानेंगे तो हमारा व्यवहार सही कैसे होगा? यदि आफिस में काम करने जाने वाले को यही नहीं मालूम होगा कि वह क्लर्क है या ऑफिसर, तो दफ्तर में उसका व्यवहार कैसे ठीक होगा? अपने पद का सही ज्ञान होने पर ही वह अपने सहकर्मियों के साथ उसके अनुरूप व्यवहार करेगा।

योगी परमात्मा से कभी दूर नहीं हो सकता क्योंकि परमात्मा तो उसकी आत्मा के रूप में उसमें स्थित हैं ही। संसार में कर्म करते वक्त भी उसकी यह याद बनी रहेगी कि मैं जिनके साथ व्यवहार कर रहा हूं वे सभी आत्मस्वरूप ही हैं इसीलिए भगवान कहते हैं कि ऐसे व्यक्ति के लिए मैं कभी ओझल नहीं होता न ही वह मेरे लिए ओझल होता है।

हमने तो भगवान को केवल मंदिर की मूर्ति में बिठा रखा है। केवल वहीं हमारे मन में यह भाव आता है कि मैं भगवान के दरबार में हूं। मैं भगवान को देख रहा हूं, भगवान मुझे। और उन कुछ क्षणों के लिए हमारे आचरण और व्यवहार में एक हद तक पवित्रता आ भी जाती है। मंदिर से निकले और भगवान तथा हम, एक दूसरे से जुदा हो गए। हमने राह चलते व्यक्तियों में भगवान को देखा नहीं, तो भगवान ने भी आंखें मूंद ली। वे भी कह देते हैं- जो मर्जी आए करो और जैसा करो वैसा भोगो।

किन्तु यह स्थिति गीता में वर्णित योगी की नहीं होती। वह सब जगह सब समय भगवान को देखता है इसलिए भगवान भी उसके क्षण-क्षण का हिसाब रखते हैं, उसे हर वक्त गिरने से बचाते रहते हैं और भगवान आगे स्पष्ट घोषणा भी करेंगे 'न मे भक्तः प्रणश्यति।'

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ।।३१।।

जो योगी ब्रह्म के एकत्व में लीन है और समस्त प्राणियों में स्थित मुझको भजता है वह सब प्रकार से व्यवहार करता हुआ मुझसे ही व्यवहार करता है।

जिसने अनेकता में एकता को देख लिया और जो सदा उस एक ब्रह्म भाव में मस्त है उसके लिए संसार में कोई बंधन नहीं। वह सबसे एकत्व का अनुभव करता है। जैसे कोई अपरिचित व्यक्ति मिलता है और फिर पता चलता है कि वह मेरे नाना के ही गांव का है, तभी हमें कितनी खुशी होती है, वह अपना सा लगने लगता है, उसकी सेवा हमें अपने नाना-मामा की सेवा लगने लगती है, उसी प्रकार भक्त भी जब दूसरों के साथ

व्यवहार करता है तो उसे लगता है वह अपने परम प्रेमी के ही अलग-अलग रूपों के साथ व्यवहार करता है।

भगवान यह भी स्पपष्ट कर देना चाहते हैं कि ऐसा व्यक्ति कुछ भी करे, उसका हर कार्य भगवान अपनी ही सेवा मानते हैं। उसे उपासना के लिए किसी नियम से बंधकर या हिमालय में जाकर तपस्या करना आवश्यक नहीं। सभी प्राणियों में राम को देखने वाला व्यक्ति कुछ भी करे वह राम का प्यारा ही रहेगा। शंकराचार्य जी ने भी भज गोविन्दम् में ऐसे ही व्यक्ति के लिए कहा है-

योग रतो वा भोग रतो वा संग रतो वा संग विहीन।
यस्य ब्रह्मणि रमते चित्तं नन्दति नन्दति नन्दत्येव।।

अर्थात् जिस व्यक्ति का चित्त ब्रह्म में लगा है वह योग करे या भोग, संसार के विषयों के संग रहे या उनसे दूर, वह पूर्ण है, वह मुक्त है, वह आनन्दमय है।

इस श्लोक के संदर्भ में यह भ्रांति हो सकती है कि योगी को इतनी स्वेच्छाचारिता क्यों दी गई है? वास्तव में जिसने सब में अपने आराध्य को देख लिया है वह किसी का बुरा चाह नहीं सकता। हम कितने भी भूखे क्यों न हों, अपनी भूख मिटाने के लिए अपनी अंगुली थोड़े ही खा लेंगे? सबमें राम को देखनेवाले के लिए तो संसार कर्मभूमि है जहां उसे सबके लिए कर्तव्य कर्म करते जाना है। यह कर्म उसकी पूजा है अपने आराध्य के प्रति।

जैसे पिता अपने बच्चे के साथ बच्चे के भांति खेलता है, उसके साथ हंसता है, रोता और झगड़ता भी है किंतु स्वयं बच्चा भी नहीं बन जाता। खेलते समय भी उसका ध्यान टेबल पर पड़ी फाइलों में रहता है और अपनी जिम्मेदारियां याद रहती है उसी प्रकार जिसका ध्यान ब्रह्म में लगा रहता है वह संसार के साथ किसी भी प्रकार से खेल सकता है क्योंकि संसार के विषय में उसे चंचल नहीं करते। संसार के कष्ट उसे पीड़ित नहीं कर सकते। लोगों की भीड़ उसके ब्रह्म एकत्व को नष्ट नहीं कर सकती। एकांत उसे अकेला नहीं बना सकता।

योगी के चित्र में और रंग भरते हुए भगवान कहते हैं:-

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुखं स योगी परमो मतः ।।३२।।

हे अर्जुन, सुख हो या दु:ख, जो दोनों में समान रूप से सबको अपने जैसा देखता है वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है।

गीता के अनुसार परम योगी वही है जो दूसरों के सुख-दु:ख को अपना सुख-दु:ख माने। वह दूसरों की भांति व्यवहार नहीं करता जो सुख में शरीक होकर दावत तो उड़ा लेते हैं पर दु:ख में मुंह तक नहीं दिखाते। जिसने सब में एक ब्रह्म को जान लिया है उसके लिए तो सभी आत्मस्वरूप (आत्मौपम्येन) हैं, उसका हृदय तो पूर्ण मानवता की पीड़ा से द्रवित होगा। इसका सबसे स्पष्ट उदाहरण है महात्मा गांधी। विश्व के हर व्यक्ति में उनके राम बसते थे इसलिए वे किसी का भी दु:ख सहन नहीं कर पाते थे। किसी पर भी अत्याचार होता हो, गांधीजी उसके विरुद्ध आवाज उठाने को सदा तैयार रहते थे। उनके लिए हिन्दू और मुसलमान में लेश मात्र भी अन्तर नहीं था। जिन मंदिरों में अछूतों का प्रवेश निषेध था उनमें भगवान का दर्शन करने गांधी जी भी नहीं जाते थे।

दुनिया चाहे उनकी तारीफ करे या आलोचना, गांधी जी के हृदय की समता को बहुत कम लोग समझ पाए हैं। बहुत से हिन्दू उनसे यह समझकर द्वेष करते थे कि उन्हें मुसलमान अधिक प्रिय हैं, वे मुसलमानों का अनुचित पक्ष लेते हैं। अपने को कट्टर हिन्दू तथा गांधी जी को हिन्दू विरोधी समझने वाले गोडसे ने उनकी हत्या भी कर दी लेकिन गांधी तो हर स्थान में, हर प्राणी में राम देखते थे। जैसा भगवान ने पिछले श्लोक में कहा था- **तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति,** गांधी जी के राम अंतकाल में भी उनके साथ ही थे। अंतिम सांस भी उन्होंने राम नाम के साथ ही ली।

इस प्रकार भगवान श्रेष्ठतम योगी का वर्णन करते हैं जिसके लिए मन का निग्रह कर कामना ही नहीं, प्रत्येक विचार तक का भी त्याग करना होगा। यह तो बहुत ही कठिन कार्य है अत: अर्जुन के मन में शंका होती है।

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ।।३३।।

हे मधुसूदन, आपने यह जो समत्वरूपी योग अभी बताया इसकी स्थिरता मुझे सम्भव नहीं जान पड़ती क्योंकि मन तो चंचल है।

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ।।३४।।

हे कृष्ण, यह मन तो चंचल, बलवान, दृढ़ तथा मथ डालने वाला है, इसका निग्रह तो मुझे वायु के समान दुष्कर जान पड़ता है।

मन के समस्त विचार जब समाप्त हो जाते हैं तब आत्मा का ज्ञान होता है और तब सब में और अपने आप में एक ही परमात्मा के दर्शन होते हैं। ऐसा होने के बाद उस योगी के लिए सब समान हो जाते हैं, कोई अपना-पराया नहीं होता, उसकी दृष्टि से भगवान कभी ओझल नहीं होते, उसका हर कार्य भगवान का भजन बन जाता है - श्रेष्ठ योगी की यह यह तस्वीर कितनी सुन्दर, कितनी भव्य, कितनी गरिमामय जान पड़ती है, लेकिन तर्कों की शृंखला में एक महत्वपूर्ण कड़ी गायब है। अर्जुन जिज्ञासु युवक था। वह कोई ऐसी थ्योरी नहीं सुनना चाहता था जिसे व्यवहार में न लाया जा सके। उसके मन में भगवान के प्रति अगाध श्रद्धा थी फिर भी वह अंधविश्वास के साथ कुछ भी स्वीकार करने को तैयार नहीं है। उसने श्रीकृष्ण से कहा- यह जो योग आपने अभी बताया उसे मैं व्यवहारिक नहीं समझता। अपनी बात को वजनदार बनाने के लिए वह भगवान के कहे हुए शब्दों का ही प्रयोग करता है। श्रीकृष्ण ने स्वयं कहा था- **'मनश्चंचलम् अस्थिरम्।'** अर्जुन का भी यही कहना है कि विचारों के प्रवाह के रुक जाने से योग की प्राप्ति एक क्षण के लिए हो भी गई तो भी वह स्थाई नहीं होगी क्योंकि मन तो चंचल है। अर्जुन यह नहीं कहता कि समत्व योग संभव ही नहीं है। उसका कहना तो यही है कि समत्व योग की प्राप्ति हो गई तो भी क्षणिक ही होगी।

अर्जुन ने मन की चंचलता के साथ तीन और बातें गिनाई है- मथ देने वाला, बलवान और दृढ़। प्रमाथि बलवत् दृढ़म्। प्रमाथि शब्द केवल प्रवाह की तेज गति को ही नहीं अभिव्यक्त करता बल्कि उसके उफान तथा अशांति की ओर भी संकेत करता है। मन के विचार सहज ही प्रवाहित नहीं होते, वे हमें बहुत अशांत भी कर देते हैं और फिर जब मन किसी भोग में रम जाता है तो बलवान तथा दृढ़ भी हो जाता है। उसका ध्यान भोगों से खींचना बहुत कठिन है। वह बार-बार एक ही दिशा में भागने लगता है, उन्हें उचित ठहराने लगता है और अपनी मान्यताओं में ऐसा दृढ़ हो जाता है कि उसे समझा-बुझाकर उसके विचारों की दिशा बदलना भी बहुत कठिन है। इसलिए अर्जुन कहता है कि मन को साधना उतना ही दुष्कर है जितना वायु को नियंत्रित करना।

यहां अर्जुन के शबदों से व्यर्थ विवाद की झलक नहीं मिलती। वह वास्तव में अपनी शंका का समाधान करना चाहता है ताकि जो कुछ उसने सुना उसे जीवन में उतार सके। भगवान उसके प्रश्नों का सदा स्वागत करते हैं और उसकी शंका का समाधान करते हुए कहते हैं:-

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ।।३५।।

हे महाबाहो! मन तो निस्संदेह चंचल तथा दुर्निग्रह है किन्तु अभ्यास तथा वैराग्य द्वारा उसे वश में किया जा सकता है।

इस श्लोक में भगवान की व्यवहार कुशलता स्पष्ट दिखलाई देती है। यदि हमारे सामने कोई अपना मतभेद प्रकट करे तो हम अपनी बात पर अड़े रहकर उसे नहीं समझा सकते क्योंकि जिस प्रकार हम अपने मत में दृढ़ होते हैं उसी प्रकार वह अपनी शंका के प्रति भी दृढ़ होता है। भगवान पहले ही शब्द में स्वीकार कर लेते हैं तुम जो कह रहे हो वह शत प्रतिशत ठीक है। अर्जुन की भृकुटि जो तनी हुई थी अपने तर्क द्वारा जिस प्रकार वह आक्रमण करने को तैयार था वह तनाव हल्का हुआ। दूसरा शब्द उन्होंने अर्जुन की प्रशंसा के लिए चुना- महाबाहो। क्षत्रिय को यह उपाधि बहुत प्रिय होती है।

इस प्रकार अर्जुन को शांत कर भगवान ने इस योग्य बना दिया कि वह भगवान की बातों को श्रद्धापूर्वक सुन सके।

अब भगवान कहते हैं कि मन चंचल अवश्य है लेकिन अभ्यास और वैराग्य के द्वारा इसे वश में किया जा सकता है। अभ्यास और वैराग्य दोनों साथ-साथ चलते हैं। इनका वास्तविक अर्थ समझना आवश्यक है। वैराग्य का साधारण अर्थ है संन्यास। हम इसका अर्थ संसार का त्याग समझ लेते है और धारणा बना लेते हैं कि संसार को त्याग कर ही संसार के जंजाल से छूटा जा सकता है तभी भगवत् प्राप्ति होगी।

बच्चों को यदि खुले मैदान में पढ़ाया जाता है तो उन्हें, पेड़, पौधे, चिड़िया आदि दिखती है और उनका मन एकाग्र नहीं होता। अत: उन्हें क्लास रूम में पढ़ाया जाता है। बच्चे तो ठहरे बच्चे। चिड़िया नहीं दिखी तो मन पढ़ने में एकाग्र हो गया पर हम तो बड़े हो गए हैं। हमारे मन के तो पर उगे हुए हैं। विषय हमारे सामने नहीं आते तो मन उड़ कर उन तक चला जाता है। ध्यान के आसन पर बैठ कर हम जापान, अमेरिका और पेरिस की फैशन परेड- सब कुछ देख आते हैं। अत: संसार से विमुख होने को वैराग्य नहीं कह सकते।

वैराग्य का अर्थ दो प्रकार का त्याग है। १. संसार की वस्तुओं व्यक्तियों के प्रति आसक्ति का त्याग २. अपने कर्मों के फल भोग की लालसा का त्याग। ये ही दोनों हमारे मन को इधर-उधर दौड़ाते हैं। इनका त्याग करने पर मन अपने आप प्रशान्त और ध्यान करने योग्य बन जाता है। इसके बाद इसे अभ्यास में लगाना है।

अभ्यास का अर्थ है एक ही विचार की पुनरावृत्ति करना ताकि मन उसमें पूरी तरह रम जाए तथा दूसरे विचार न आए। वैराग्य जितना दृढ़ होगा अभ्यास में उतनी ही अधिक सफलता मिलेगी। अभ्यास जितना गहन होगा उतनी ही हमें अन्य विचारों को छोड़ने में सफलता मिलेगी। इस प्रकार अभ्यास और वैराग्य दोनों एक दूसरे को सहारा देते हुए साथ-साथ चलते हैं और ध्यान में उत्तरोत्तर प्रगति होती जाती है।

दोनों शब्दों का एक ही सांस में प्रयोग करके भगवान ने स्पष्ट कर दिया है कि यदि हम यह सोचें कि पहले संसार से पूर्ण विरक्त हो जाए तभी

ध्यान के विषय में सोचा जा सकता है तो यह मूर्खता होगी।

अपनी जिन्दगी का लेखा जोखा तैयार करें। अनुभव तथा बुद्धि के आधार पर खूब सावधानी से नोट करें- जीवन में हमने कितना विनियोजन किया। कितनी मेहनत लगाई, कितना स्वास्थ्य झोंका, कितनी मानसिक शक्ति खर्च की। बदले में हमने कितनी सुख-शांति की कमाई की? हमारी बैलेंस शीट घाटा ही दिखाएगी। हर साल घाटा देखने पर हम सोचना शुरू करेंगे कि इसे लाभदायक कैसे बनाया जा सकता है ताकि हम जितना परिश्रम करें उसके अनुपात में हमें सुख शांति मिले। तब हमें पता चलेगा कि जीवन में नैतिकता का क्या महत्व है, स्वार्थ से क्या नुकसान है, आत्मसंयम से क्या लाभ है, स्वेच्छाचारिता से क्या नुकसान है। अहंकार को छोड़ने से क्या पाया जा सकता है, कर्म फल भोगने की चिंता को त्याग कर हम अपनी कार्य क्षमता को कितना बढ़ा सकते हैं।

तब हमारे हृदय में अपने छिछले कर्मों और ओछी प्रवृत्तियों के प्रति जो वैराग्य होगा वही वास्तविक वैराग्य है, तब उसके साथ साथ जो अभ्यास चलेगा वही हमें सफल बनाएगा। ऐसे वैराग्य और अभ्यास से मन अपने आप संयत हो जाएगा क्योंकि अब विषय जगत् उसके लिए आकर्षक रहा ही नहीं, वह घूमेगा कहां? असंयमित मन वाले के विषय में भगवान कहते हैं:-

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ।।३६।।

जिसका मन संयत नहीं उसके लिए योग अति दुरुह है किंतु संयमित व्यक्ति प्रयत्न तथा (सही) उपाय के द्वारा इसे पा सकता है।

साधारण जीवन में ही यदि कुछ पाना चाहते हैं तो मन को संयमित करना ही पड़ता है। विद्यार्थी को परीक्षा पास करनी है तो मन पर अंकुश लगा कर खेल और सिनेमा के मोह को छोड़ना ही पड़ता है। सिनेमा का एक्टर या नर्तक भी बनना हो तो भी काफी चीजों में संयम बरतना पड़ता है। जब सांसारिक उपलब्धियां ही संयम के बिना संभव नहीं तो आत्मज्ञान तो मानव जीवन की चरम उपलब्धि है। इसके लिए तो हमें मन को प्रशिक्षित

करना ही होगा। यदि हम लम्बी यात्रा पर जाना चाहते हैं तो खटारा कर में नहीं जा सकते। उसे गैरेज भेजकर लम्बी यात्रा के लायक बनाना होगा। इसी प्रकार ध्यान भी ऐसे असंयमित मन द्वारा संभव नहीं जो आसन पर तो बैठे भगवान का नाम जपने के लिए और सैर सारी दुनिया की करता फिरे।

संयम के बाद दूसरी बात आती है सही उपाय की (उपायतः)। सिनेमा न देखना, खेल के मैदान की ओर न झांकना इस बात की गारंटी नहीं देता कि छात्र परीक्षा में पास हो ही जाएगा। वह जितना समय इनमें लगाता था उसे अब अध्ययन में लगाना होगा। हम भी अपना जो समय और जो शक्ति भोगों में तथा उनकी चिंता में लगाते थे, उन्हें सही दिशा में साधना में लगाना होगा अन्यथा योग संभव नहीं। यही कारण है कि हर साधू आत्मज्ञानी नहीं हो जाता। संसार का शारीरिक रूप से त्याग तो बहुत सरल है, लेकिन मन को ध्यान में एकाग्र करना बहुत कठिन है। इसके लिए लगन और निष्ठा के साथ-साथ उपाय अर्थात् सही कला का प्रयोग भी आवश्यक है। इन उपायों के अर्थात् ध्यान की कला और प्रक्रिया के बारे में भगवान पहले ही विस्तार पूर्वक बतला चुके हैं। श्रद्धा के साथ इन पर अमल करने से सफलता अवश्य मिलेगी, यह भगवान का मत है।

अर्जुन की शंका का निवारण तो हो गया लेकिन उसे समझ में आ गया कि योग साधना बहुत कठिन है। संसार के भोग-विलास को त्यागना होगा और समय भी बहुत लग सकता है। अब उसके मन में दूसरी शंका उठती है कि कोई जीवन भर संसारिक सुखों से मुख मोड़ता रहे, ध्यान का अभ्यास भी करे लेकिन मृत्यु पर्यन्त उसे सफलता न मिले तो क्या होगा? माया मिली न राम वाली हालत में वह तो कहीं का न रह जाएगा।

अपनी शंका को वह अगले तीन श्लोकों में व्यक्त करता है।

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ।।३७।।
कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ।।३८।।

हे कृष्ण, श्रद्धा के साथ प्रयत्न करने पर भी मन चलायमान होने के कारण जिसे योग सिद्धि न प्राप्त हुई हो ऐसा व्यक्ति किस गति को प्राप्त होता है?

हे महाबाहो, ब्रह्म (प्राप्ति) के मार्ग में विमूढ़ होने के कारण वह आश्रय रहित पुरुष कहीं दोनों ओर से भ्रष्ट होकर छिन्न-भिन्न बादल की तरह नष्ट तो नहीं हो जाता?

अर्जुन के मन में संशय हैं। शास्त्र में यद्यपि विषयों से वैराग्य की सलाह दी गई है फिर भी यह तो स्वीकार किया गया है कि उनमें क्षणिक आनन्द अवश्य है जब कि ब्रह्मानन्द अखण्ड और स्थायी होता है। प्रश्न के पीछे शंका यही है कि ऐसे दुरुह पथ पर चलने के लिए क्षणिक विषय आनन्द भी त्याग दिए जाएं और अखण्ड ब्रह्मानंद भी न प्राप्त हो तो साधक तो कहीं का भी नहीं रहेगा। वैराग्य और अभ्यास के लम्बे पथ पर चलते-चलते मृत्यु भी अपने शिकंजे में जकड़ सकती है और यह भी हो सकता है कि साधक अपने प्रयत्न के बावजूद मन को संयमित करने में असफल हो जाए और योग भ्रष्ट हो जाए अर्थात् अपना प्रयत्न छोड़ दे। दोनों ही दशा बहुत दुखदायी होगी और इस परिप्रेक्ष्य में अर्जुन को गर्मी के मेघ की याद आती है। गर्मी में आकाश में बादल छाते हैं और लोगों में आशा जगा देते हैं कि पानी अब बरसेगा। किंतु जैसे ही हवा चलती है, बादल छिन्न-भिन्न होकर बिखर जाते हैं। इसी प्रकार साधना के मार्ग पर चलते-चलते साधक के मन में तो आशा जगे किंतु मृत्यु या मन की चंचलता के कारण सब कुछ छिन्न-भिन्न हो जाए तो? वह न तो साधारण व्यक्ति की भांति सांसारिक सुख ही भोग पाएगा न अपने उद्देश्य में ही सफल हो पाएगा।

योग भ्रष्ट साधक की स्थिति की कल्पना अर्जुन को इतनी भयानक लगी कि उसकी बुद्धि लड़खड़ा गई। विचार करने में अपने को असमर्थ पाकर उसने अपने आप को श्रीकृष्ण को समर्पित करते हुए कहा-

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ।।३९।।

हे कृष्ण आप मेरा यह संशय पूर्णतः दूर करें। आपके सिवा मेरा संशय दूर करने योग्य और कोई नहीं है।

किसी भी विद्या के अध्ययन में एक-दो शंकाएं उपजना स्वाभाविक ही है। भगवान तो अर्जुन की हर शंका का समाधन करने तैयार बैठे हैं।

श्री भगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत्कश्चित्दुर्गतिं तात गच्छति ।।४०।।

हे पार्थ, उसका विनाश न इस लोक में होता है और न ही परलोक में। हे तात, कल्याण कार्य करने वाला कभी बुरी गति को प्राप्त नहीं होता।

पहली पंक्ति में भगवान उद्घोषणा करते हैं कि योग के पथ पर चलता हुआ व्यक्ति यदि किसी कारण से योग भ्रष्ट हो गया या मृत्यु को प्राप्त हो गया तो न इस लोक में उसका विनाश होता है न परलोक में। यह उद्घोषणा केवल भावावेश में आकर नहीं की गई। इसके पीछे जो सिद्धांत हैं वह तुरंत भगवान ने अगली पंक्ति में बता दिया है 'अच्छा कर्म करने वाला कभी बुरी गति को नहीं प्राप्त होता।'

'अच्छे कर्म का फल बुरा नहीं हो सकता और बुरे कर्म का फल अच्छा नहीं हो सकता' यह बात सचमुच समझकर हम गांठ बांध लें तो दुनिया की बहुत सी समस्याएं हल हो जाएं, बहुत सी बुराईयां जड़ से मिट जाएं। अच्छे बुरे का ज्ञान सबको है पर हमारी गतिविधियों को संचालित करने वाला केवल विवेक ही नहीं बल्कि सुख की कामना भी है। जहां दोनों एक रहते हैं अर्थात् विवेक युक्त कर्म में ही सुख भी जान पड़ता है वहां तो हम सत्कर्म सहज ही अपना लेते हैं पर जहां हमें ऐसा लगने लगता है कि थोड़ा सा झूठ बोलने जरा सी धोखेबाजी कर लेने से हमें बहुत लाभ हो जाएगा वहां हम ज्ञान को तिलांजलि देकर सुख का ही पल्ला पकड़ लेते हैं और कुकर्म करने को उतारू हो जाते हैं। इन्हें हमने व्यवहार कुशलता, स्मार्टनेस,

डिप्लोमेसी आदि-आदि गौरवशाली नाम दे रखे हैं। लेकिन सचमुच कुकर्म यदि सुख की ओर ले जाते तो आज दुनिया में इतना हाहाकार नहीं होता।

भगवान कहते हैं जो वर्तमान में सत्कर्म करता है उसका भविष्य अच्छा ही होगा क्योंकि भविष्य वर्तमान की ही अगली कड़ी है। हमें सत्कर्म से च्युत और कुकर्म में प्रेरित करने वाला एक कारण यह है कि हर अच्छे बुरे कर्म का अच्छा बुरा फल तुरंत मिले यह जरूरी नहीं। जैसे सभी जानते हैं कि सिगरेट फेफड़े के लिए जहर है फिर भी दमे के मरीज तक सिगरेट पीकर धीमी मौत को न्योता देते रहते हैं पर यदि किसी को सिगरेट का बहुत शौक है पर उसे धुएं से ऐसी एलर्जी हो गई है कि सिगरेट सुलगाते ही खांसी का दौरा पड़ जाता है तो वह सिगरेट कभी नहीं पीएगा। हम भी कुकर्म करने में नहीं हिचकते क्योंकि हम अपने अगल-बगल देखते हैं जो चोरी बेइमानी और गुण्डागर्दी के बल पर जिंदगी भर ऐश करते दिखाई पड़ते हैं।

अर्जुन ने भी यह नहीं समझा कि मृत्यु परम अन्त नहीं है। जीवन तो चलता ही रहता है। जन्म के पहले भी यह था और मृत्यु के बाद भी यह रहेगा। जो अन्तर हमारे लिए आज और रात की नींद के बाद उगने वाले कल में है वही अन्तर सृष्टि के विधाता के लिए इस जन्म और अगले जन्म में है। मृत्यु तो एक सामयिक विश्राम है। रात को हम सोते हैं तो हमारे कर्मफल, हमारा पद, हमारी उपलब्धियां, हमारा वैभव, धन, सुख, दुख सब समाप्त नहीं हो जाता। नींद से तो केवल तन मन को विश्राम मिलता है ताकि उठने के बाद अधिक चुस्ती से काम कर सकें। पहले दिन तक जो धन, ज्ञान और भोग के साधन हमने अर्जित किए हैं, जो विचार हम पालते रहे हैं, वे जागते ही अपना खेल फिर दिखाने लगते हैं।

हिन्दू धर्म पुनर्जन्म के सिद्धांत को मानता है। जीवन कभी समाप्त नहीं होता। वर्तमान काल अतीत का फल है और भविष्य काल वर्तमान का। आज के हमारे एक-एक विचार, एक-एक कर्म, एक-एक जानकारी हमारे भविष्य की रूपरेखा बनाने में अपना-अपना योगदान देने वाले हैं। कर्मों का अथाह कोष हमारे पास संचित है जिसमें हमारे हर कर्म का प्रतिफल है। हमारा एक भी कर्म वृथा नहीं जाता, कुछ कर्मों के फल तुरंत और कुछ देर से भले ही मिले। जैसे गेहूं बोने का फल तीन माह में और आम बोने का

फल पांच वर्ष में मिलता है। बेईमानी, चोरी, कदाचार करने वाले आज ऐश करते भले जान पड़ें अपने कुछ अन्य कर्मों के फलस्वरूप, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि वह कदाचार का फल भोगे बिना रह जाएगा। उसी प्रकार सदाचारी हो सकता है किन्हीं और कर्मों के फलस्वरूप आज कष्ट भोग रहा पर सदाचार फलित हुए बिना नहीं रहेगा। हमने आज तक कितने भी कुकर्म क्यों न किए हों, जिस क्षण सुकर्म का संकल्प ले लेंगे उसी क्षण से हमारे जीवन कोष में सुफल का भंडार बढ़ना शुरू हो जाएगा।

इसलिए भगवान कहते हैं कि जीवन पर्यन्त जिसने योग साधना की है वह कभी नष्ट नहीं होता। उसकी गति कैसी होगी यह भगवान अगले श्लोक में कहते हैं-

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचिनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ।।४१।।

पुण्यवान लोगों को मिलने वाले लोक को पाकर और वहां बहुत समय तक रह कर योगभ्रष्ट मनुष्य पवित्र और सम्पन्न घर में जन्म लेता है।

अपने जीवन के हर क्षण को देख लें। हम वहीं जाते हैं जहां जाने को हमारी सबसे बलवती कामना प्रेरित करती है। जिसे जुआ खेलने की कामना होगी वह मंदिर कभी नहीं जाएगा। यदि आप टी वी देखना पसंद करते हैं और उपन्यास पढ़ना भी तो जिस वक्त टी वी कामना अधिक बलवती होगी उस वक्त टी वी देखेंगे और जिस समय उपन्यास कामना बलवती होगी उस समय उपन्यास पढ़ेंगे। इस प्रकार हमें कुछ भी कराने वाली, इधर से उधर ले जाने वाली यह वासना या कामना है। इस श्लोक में भगवान उस साधक की गति बताते हैं जो कामना के कारण योगभ्रष्ट हुआ है।

योग युक्त वही हो पाता है जिसके हृदय से सारे विचार, सारी कामनाएं लुप्त हो जाती हैं। कुछ साधक जीवन में कल्याण कार्य करते हैं, भगवान की उपासना भी करते हैं लेकिन उनके हृदय में स्वार्गिक सुख भोगने

की कामना रहती है। ऐसा साधक जीवन पर्यन्त भी साधना करता रहे तो निर्विकल्प समाधि के चिर स्थाई आनन्द की प्राप्ति तो नहीं होगी लेकिन उसने कल्याण कर्म किए हैं और भगवान का उद्घोष है कि उसकी दुर्गति नहीं होगी।

भगवान के पास तो फाइव स्टार होटल की सी सुविधाएं हैं, जिसके हृदय में जैसी कामना होती है उसे वैसी ही सुविधाएं उपलब्ध करा देते हैं ताकि वह अपनी वासना को समाप्त कर 'हल्का' हो सके। जैसे मानव जीवन पाकर भी हम पशु के समान व्यवहार करें तो भगवान भी समझते हैं कि पशुवत् व्यवहार तो पशु के रूप में करना ज्यादा सुविधाजनक होगा। इसीलिए हमें पशु योनि में भेजते हैं ताकि हम अपनी पाशविक वासनाओं से मुक्त होकर पुनः मानव जीवन के अनुकूल बन सकें। कोई व्यक्ति कितना भी अच्छा क्यों न हो, यदि जीवन भर उसने खाने के इच्छा के अलावा दूसरी कोई इच्छा नहीं संजोई तो सुअर की योनि से उपयुक्त उसके लिए क्या होगा? इसी योनि में वह सुबह से रात तक खाता रह सकता है। हमें यदि पता चल जाए कि फलां व्यक्ति को सुअर का जन्म मिला है तो हम भले ही च् च् च् करें, लेकिन सुअर-देह में उसे जो संतुष्टि मिल रही है यह वही जानता है।

इस प्रकार जिसने उत्तम सुखों की वासना से अच्छे कर्म किए हैं, उसकी इच्छा भी अवश्य पूरी होनी चाहिए। भगवान तो आतुर हैं, हमें अपने आप में मिला लेने के लिए। वे तो चाहते हैं कि हम अपनी शापिंग जल्दी से निपटा कर घर लौट आएं, अपनी वासनाओं की भूल-भूलैया से जल्दी से जल्दी निवृत्त होकर उनमें मिल जाएं। ऐसे पुण्यशाली लोगों के लिए उन्होंने पृथक व्यवस्था कर रखी है जिसे हम आम तौर पर स्वर्ग कह देते हैं। कामना के साथ सत्कर्म करने वाले की पूर्णता का पथ स्वर्ग से होकर गुजरता है। यहां पर लम्बी अवधि तक निवास करने पर उसकी सुख भोग की कामनाएं पूर्ण हो जाती है लेकिन यह भी भोग लोक है। इसमें कामनाओं की पूर्ति तो हो सकती है पर आगे की साधना नहीं हो सकती। कर्म तो केवल मनुष्य योनि में ही संभव है। अतः उस योगभ्रष्ट साधक का जन्म फिर से मनुष्य के रूप में होता है। उसे जो कुल मिलता है वह सम्पन्न भी होता है और पवित्र भी ताकि उसकी कुछ बची-खुची वासनाओं की पूर्ति के साधन भी

उपलब्ध रहें और योग के पथ पर आगे बढ़ने के अवसर भी प्राप्त हो। इस प्रकार जिसने साधना आरम्भ कर ली है उसने जितना भी, जो कुछ भी पाया है वह नष्ट नहीं होता। एक बार हम आरम्भ करें तो सही।

अगले श्लोक में भगवान बताते हैं कि जो व्यक्ति निष्काम भाव से सत्कर्म करता है उसका क्या होता है।

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ।।४२।।

अथवा (वह वैराग्यवान पुरुष उन लोकों में न जाकर) ज्ञानवान योगियों के कुल में जन्म लेता है। संसार में ऐसा जन्म निस्संदेह अत्यंन्त दुर्लभ है।

हम अल्प बुद्धि वाले साधारण संसारी भी हर व्यक्ति को वहीं भेजते हैं जहां के वह योग्य है। कितनी भी इमरजेंसी क्यों न हो, किसी भी इंजीनियर को अस्पताल में रोगियों के इलाज के लिए नहीं भेजा जाता है। भगवान तो परम बुद्धिमान हैं। उनकी सारी व्यवस्था पूर्णत: वैज्ञानिक है जहां हर व्यक्ति के गुण तथा योग्यता के अनुसार उसकी स्थिति निश्चित की जाती है।

जो व्यक्ति निष्काम कर्म करता है उसके कर्मों से अच्छी बुरी किसी भी प्रकार की वासना उत्पन्न नहीं होती। वासनाएं ही मन को अस्थिर और विचलित करती है। इनकी कमी के साथ-साथ मन की दृढ़ता और एकाग्रता बढ़ती है और वह ध्यान के योग बनता है। उसका पूर्णता का पथ स्वर्ग से होकर नहीं गुजरता क्योंकि भोगों की तो उसे चाह ही नहीं। अपने वर्तमान शरीर को त्यागते ही वह वैसे वातावरण में ऐसा शरीर प्राप्त करेगा जहां उसकी यात्रा निर्बाध रूप से चलती रह सके और शीघ्र अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सके।

यह जन्म योगियों के कुल में होता है जहां बचपन से ही बालक को संतों का संग प्राप्त होता है, पवित्र वातावरण मिलता है तथा अध्यात्म ज्ञान

की शिक्षा और साधना के अवसर मिलते हैं। भगवान स्वयं कहते हैं कि ऐसा जीवन इस संसार में बहुत दुर्लभ है। शंकराचार्य जी का जीवन इसका ज्वलन्त उदाहरण है।

इस प्रकार भगवान ने योगभ्रष्ट की दो श्रेणियां बताई। एक श्रेणी का योगभ्रष्ट पवित्र धनाढ्य कुल में जन्म लेता है और दूसरा बुद्धिमान ज्ञानवान योगियों के कुल में। ये वैरागी योगी धनवान तो निश्चित रूप से नहीं ही हो सकते फिर भी भगवान ने ऐसे जन्म को दुर्लभतम कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि सच्चरित्र श्रीमन्तों के घर में जन्म लेने की अपेक्षा दरिद्र किन्तु ज्ञानवान योगियों के घर जन्म पाना और भी अधिक कठिन है।

योगभ्रष्ट श्रीमंतों के घर जन्म लें या योगियों के घर, जन्म पाने के बाद वह क्या करता है, यह बतलाते हुए भगवान कहते हैं-

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ।।४३।।

हे कुरुनन्दन, वहां उसे पूर्वजन्म के बुद्धि संस्कार भी मिलते हैं और वह सिद्धि के लिए और भी अधिक प्रयत्न करता है।

मृत्यु केवल देह की होती है। नवीन देह में मन और बुद्धि की परिपक्वता में पिछले जन्म के संस्कारों का समावेश रहता है। प्रतिदिन टाइप करने वाला व्यक्ति रात को सोता है और दूसरे दिन फिर टाइप करने बैठता है तो पहले दिन तक उसने जितना अभ्यास कर लिया था वह उसके अगले दिन भी काम आता है। अब यदि कुछ दिनों बाद अपनी लगन और मेहनत के बल पर अफसर बन जाए तो उसका टाइप करना छूट जाएगा। लम्बे समय के बाद किसी कारणवश टाइप करने की आवश्यकता पड़ जाए तो अभ्यास छूटने के कारण एक बार भले ही उंगलियां लड़खड़ाएं पर एक दो पन्ने टाइप करते न करते पूर्वाभ्यास उसके काम आने लगेगा और वह आराम से टाइप कर पाएगा। उसे नये सिरे से टाइपिंग सीखने की जरूरत नहीं होगी।

भगवान कहते हैं कि हर जन्म पिछले जन्म से जुड़ा हुआ है। जिस

व्यक्ति ने अपना जीवन ज्ञान प्राप्ति तथा कामनाओं के त्याग के प्रयत्न में लगाया है उसे अगले जन्म में फिर से इन्हें सीखने की जरूरत नहीं होगी। ज्ञान तो मन बुद्धि में सुप्त है ही, अल्पकाल में ही वह अपने छूटे हुए अभ्यास को पुनः प्राप्त कर लेगा।

किन्तु केवल पूर्व अभ्यास एवं ज्ञान ही पर्याप्त होता तो वह साधक पिछले जन्म में ही सिद्धावस्था को प्राप्त कर चुका होता लेकिन मृत्यु या अन्य किसी कारण वश 'कुछ' रह गया था। भगवान बताते हैं कि इस जीवन में वह और प्रयत्न भी करता है। इस प्रकार पूर्व जन्म के संस्कार और इस जन्म के पुरुषार्थ के फलस्वरूप उसे सिद्धि प्राप्त होती है। पूर्व जन्म के बुद्धि रूप संस्कार की प्राप्ति सृष्टि का एक नियम है। भगवान इसके विषय में कहते हैं-

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ।।४४।।

पूर्व अभ्यास के कारण वह ऐसा जन्म लेने के लिए बाध्य है। योग का जिज्ञासु भी शब्दों द्वारा व्यक्त ब्रह्म से उपर उठ जाता है।

हमारा बैंक बैंलेंस किसी भी दिन उतना ही रहेगा जितना हमने अब तक जमा किया है। कोई भी बैंकर न हमारे पैसे लेगा न हमें अपने बैलेंस से अधिक देगा। हमारे कर्मों का भी बैंक है जिसमें हर कर्म का फल संचित होता जाता है। कुछ कर्म फल तो साथ-साथ भुना लिया जाते हैं और शेष संचित रह जाते हैं। हर कर्म का फल मिलना अवश्यम्भावी है। इस खाते में कहीं कोई गड़बड़ी नहीं होने वाली। जिस प्रकार प्रत्येक दिन पिछले दिन की ही अगली कड़ी है उसी प्रकार हर जन्म पिछले जन्म की अगली कड़ी है। हम जिस संकटग्रस्त अवस्था में सोये थे उठने के बाद फिर उसे भोगने को बाध्य हैं। इसी प्रकार हम अपने पूर्व अभ्यास के अनुरूप जीवन प्राप्त करने को बाध्य हैं। हमारे संस्कार हमारे शरीर मन, बुद्धि द्वारा अभिव्यक्त होंगे ही। कोई भी साधक चाहे तो भी अधिक देर दुष्ट के रूप में व्यवहार नहीं कर पाएगा। कोई दुष्ट व्यक्ति अधिक देर तक भला नहीं बना रह सकता। दोनों

की सच्चाई उभर ही जाएगी। हमने अपने जो कर्म फल संचित कर रखे हैं उन्हीं के अनुसार हमें शारीरिक पुष्टता, मानसिक संवेदनशीलता और बौद्धिक तीक्ष्णता मिलेगी। उन्हीं के अनुसार संसार की कुछ विशिष्ट वस्तुओं के प्रति हमारा झुकाव अधिक होगा। जिसने जिमनास्टिक और व्यायाम में काफी समय बिताया है उसका शरीर चुस्त और फुर्तीला होगा ही, जिसने गरीबों के बीच सेवा कार्य किया है वह संवेदनशील होगा ही और जिसका जीवन अध्ययन, मनन, पठन-पाठन में ही बीता है उसकी बुद्धि तीक्ष्ण होगी ही। इसी प्रकार जिसने जीवन पर्यन्त योग का अभ्यास किया है, मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रयत्न किया है उसके कर्म के अनुकूल जीवन और वातावरण भगवान देंगे ही। वह राजा के रूप में जन्म ले या एक अत्यन्त साधारण गृहस्थ के रूप में, उसके स्वभाव में उदारता, बन्धुत्व भाव, प्रेम, दया और करुणा निश्चित रूप से उजागर होगी, वह अपने पथ से डिग नहीं सकता वह बाध्य है, विवश है क्योंकि यह सृष्टिकर्ता का विधन है।

तत्पश्चात भगवान योग की महिमा का गुणगान करते हुए कहते हैं कि योग का जिज्ञासु भी शब्द ब्रह्म से उच्च अवस्था को प्राप्त करता है। शब्द ब्रह्म का अर्थ है शब्दों में ब्रह्म। चूंकि वेदों में शब्दों द्वारा ब्रह्म को अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया गया है अतः शब्द ब्रह्म का अर्थ है वेद वाक्य। लेकिन वैदिक कर्मकाण्ड के साथ उपासना को भी सम्मिलित कर लें तब भी भगवान के कथनानुसार योग की जिज्ञासा इन सबसे महान है।

कर्म या उपासना द्वारा जो फल मनुष्य को मिलते हैं उससे अधिक उच्च है ध्यान योग से होने वाली उपलब्धि। जिसे योग के संबंध में जिज्ञासा है, जो ध्यान योग के लिए प्रयत्नशील है वह उस व्यक्ति से महान है जो केवल वेद की ऋचाओं का पाठ करता है या वेदों (शब्द ब्रह्म) में बताए गए कर्मकाण्डों का अन्धानुसरण करता है। वेदों में ब्रह्म का जितना भी निरूपण शब्दों द्वारा किया जा सकता है वह किया गया है अतः इन्हें शब्द ब्रह्म कहते हैं। साधारण वेदपाठी या कर्मकांडी की पहुंच तो शब्द ब्रह्म तक ही हो सकती है। परब्रह्म का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता। इसके लिए साधना आवश्यक है। पूजा, उपासना मनुष्य की मानसिकता में आमूल परिवर्तन नहीं ला सकते किन्तु जिसे आध्यात्म ज्ञान की जिज्ञासा होगी वह उसकी तह में जाने का प्रयत्न अवश्य करेगा। ध्यान योग के विषय में जितना

भगवान ने बताया है उसे भली भांति समझ लेने के बाद वह मात्र 'नाचो गाओ मौज उड़ाओ' वाले जीवन से संतुष्ट रह ही नहीं सकता वह इनकी ओर से उदासीन होकर ब्रह्म की प्राप्ति के लिए अपनी उर्जा को केन्द्रित करेगा। वेदों में जो पूजा विधि इत्यादि बताई गई है उनसे मन एकाग्र तो हो जाता है पर इतना पर्याप्त नहीं। इसके बाद ध्यान के द्वारा ही मन और बुद्धि की सीमाओं को पारकर अहंकार के आवरण को भेदा जा सकता है जिससे ब्रह्म की प्राप्ति हो सकती है। इसीलिए भगवान कहते हैं कि योग की जिज्ञासा शब्द ब्रह्म से ऊंची है।

योगभ्रष्ट की परम गति का वर्णन अगले श्लोक में करते हैं-

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ।।४५।।

परंतु अनेक जन्मों की साधना से सिद्धि को पाया हुआ तथा इस जन्म में प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करने वाला योगी (समस्त) पापों से अच्छी तरह शुद्ध हो जाता है (और) उसके पश्चात् परम गति को प्राप्त हो जाता है।

आकाश सारा एक ही है लेकिन कहीं चार दीवारें खड़ी कर दें तो इससे घिरा हुआ आकाश कमरा कहलाने लगता है। दीवारें टूटते ही कमरे का आकाश बाहर के पूर्ण आकाश से मिल जाता है। इसी प्रकार आत्मा एक ही है किन्तु शरीर मन बुद्धि के स्तर पर व्यक्त होने वाली वासनाओं से घिरकर वह जीव का रूप ले लेती है। शरीर, मन, बुद्धि की वासनाओं का घेरा टूटते ही जीवात्मा परमात्मा का एकीकरण हो जाता है। यही जीव की परम गति है। जीवन के विभिन्न खेलों का परम उद्देश्य यही है।

वासना से मुक्ति के दो चरण हैं। प्रथम चरण में तो जीवात्मा ऐसी विभिन्न योनियों में जन्म लेती है जिसमें किसी न किसी प्रकार की वासना पूर्ति हो जाती है और इस प्रकार जीवात्मा को उस वासना विशेष से मुक्ति मिल ही जाती है। जिस प्रकार खाने की अतिशय वासना की पूर्ति सुअर की योनि में जन्म लेकर अच्छी तरह हो सकती है, क्रूरता और हिंसा की वासना

हो तो बाघ चीते आदि का जन्म बेहतर रहेगा। इन योनियों में पुरुषार्थ संभव ही नहीं। हर पशु एक बंधे-बंधाए ढर्रे से चलने के लिए बाध्य हैं। बया इतना सुन्दर घर बनाती है कि आदमी नहीं बना सकता। यह घर बनाना सीखने के लिए उसे 'क्लास' नहीं करनी पड़ती। वह अपने आप बनाने लगती है। यह गुण उसे प्रकृति से मिला है लेकिन ठीक वैसा ही घोंसला बनाने के अलावा वह और कुछ नहीं कर सकती। किसी भी पशु की जीवन पद्धति में आज तक हमने कोई 'इम्प्रूवमेंट' नहीं देखा है। ये भोग योनियां हैं। विभिन्न भोगों की पूर्ति के लिए विभिन्न योनियों में जन्म लेती हुई जीवात्मा शुद्धि प्राप्त करते-करते मनुष्य का रूप धारण कर लेती है। मनुष्य योनि में ही स्वयं पुरुषार्थ करके अपने आप को पाप पुण्य से मुक्ति दिलाना संभव है।

गीता में हमें अब तक इन्हीं पुरुषार्थ के विषय में बताया गया है जो हमें पाप पुण्य से मुक्त करा सकते हैं। पहले हम प्रमाद त्याग कर्म करने को तत्पर हों। फिर निष्काम कर्म कर चित्त शुद्ध करने का प्रयास करें ताकि संसार की लालसा, भोग की लिप्सा छूटे और हम अपने कर्म और भोग के बंधन से मुक्त हो सकें। तत्पश्चात् ध्यानाभ्यास करें। इसके लिए मन को ब्रह्म में एकाग्र करके बैठें (युक्त आसीत मत्पर:) दूसरा कोई विचार मन में न आए यह प्रयत्न करें। कुछ देर बाद यह अंतिम विचार भी अपने आप समाप्त हो जाता है। विचार शून्यता की स्थिति हमें शरीर मन बुद्धि की उपाधियों से ऊपर ले जाती है। इस अवस्था में वासनाएं तप्त हो जाती हैं। तप्त हुई वासना फिर विचार कामना या कर्म को जन्म नहीं दे सकती। इस प्रकार योगी पाप पुण्य से मुक्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में वासना का घेरा पूरी तरह टूट जाता है और जीवात्मा का परमात्मा में विलय हो जाता है। यही परम गति है।

दु:ख की बात यह है कि अनेक जन्म संसिद्धि: का अर्थ पंडितों ने गलत लगा रखा है और हम यह समझ बैठते हैं कि अभी तो हमें चौरासी लाख योनियों में भटकना है। 'मुक्ति के लिए अनेकों जन्म लेना होगा।' यह बात हमें इतना हतोत्साहित कर देती है कि हम शुरूआत करने की भी नहीं सोचते। किन्तु यदि हम शारीरिक पूर्णता और मानसिक-बौद्धिक क्षमता के स्वामी हैं तो हमें समझ लेना चाहिए कि हम इन योनियों को पार कर चुके हैं। मुक्ति निकट है। कमी है तो केवल प्रयत्न की। इसीलिए भगवान इस

श्लोक में कहते हैं कि अनेक जन्मों की साधना से संशुद्धि को प्राप्त हुआ व्यक्ति प्रयत्न पूर्वक अभ्यास करके परम गति पाता है। इसीलिए स्वामी विवेकानन्द ने गरज कर आह्वान किया था- 'उठो जागो और लक्ष्य को प्राप्त करो। हे मानव, बहुत सो चुके तुम, अब मोह-निद्रा को त्यागो।'

डार्विन के विकासवाद में भी यही कहा गया है। पेड़-पौधे, कीट-पतंगों, पक्षी, पशु आदि के विभिन्न रूपों से विकास करता हुआ मनुष्य इस रूप में पहुंचा है। मानव में प्राकृतिक विकास पूर्ण हो चुका है। इसके बाद डार्विन ने महामानव की कल्पना करके छोड़ दी है। डार्विन का विकासवाद जहां समाप्त होता है वहीं से हमारे शास्त्रों का आरम्भ होता है। वेदान्त का विषय यही है- मानव को महामानव बनाने की पद्धति, जिसे हमने योग का नाम दिया है। वेदान्त हमें केवल नर से नारायण (मानव से महामानव) की परिकल्पना नहीं देता, उस रूप को पाने की विधि भी बताता है। इस विधि का अन्तिम चरण ही ध्यान योग है।

जिसे ज्ञान की जिज्ञासा है, जिसे पूर्णता को प्राप्त करने की अभिलाषा है, जिसे इंद्रिय भोगों पर आधारित जीवन की निरर्थकता का ज्ञान हो चुका है, जिसके हृदय में ऋषियों द्वारा बताए गए पथ पर चलने का साहस है, जिसके मन में शांति की भूख और ज्ञान की पिपासा है, जो नैतिकता और चारित्रिक मूल्यों पर दृढ़ रह कर अपने अन्दर की बुराइयों से युद्ध करने के लिए कटिबद्ध है, जो अलौकिक को पाने के लिए सहर्ष सभी लौकिक उपलब्धियों का त्याग करने के लिए तैयार है, ऐसा व्यक्ति पेड़, पौधों और पशुओं की भांति पंच महाभूतों का मिश्रण मात्र नहीं वह सृष्टि की महानतम रचना है जिसके लिए सत्य का मार्ग प्रशस्त है, जिसके लिए अखण्ड आनन्द और ब्रह्मज्ञान का द्वार हर क्षण खुला है। वह इसी जन्म में आलीशान साम्राज्य में प्रवेश कर अपना आधिपत्य कर सकता है।

अभी हमारे इन्द्रिय मन, बुद्धि, संसार में ही निरंतर रत रहते हैं, इन्हें संसार से विमुख कर ब्रह्म के सम्मुख करना ही ध्यान-योग है और यदि हम ऐसा करें तो यही जन्म हमारे लिए अन्तिम जन्म हो सकता है। इसीलिए भगवान अर्जुन का आह्वान करते हुए कहते हैं-

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ।।४६।।

तपस्वियों से भी योगी श्रेष्ठ है ज्ञानियों से भी योगी श्रेष्ठ है और कर्मियों से भी योगी श्रेष्ठ है- ऐसा मेरा मत है। अतः हे अर्जुन! तू योगी हो जा।

तपस्वी उसे कहते हैं जो किसी विशेष लक्ष्य या सिद्धि को पाने के लिए भूख-प्यास, गर्मी-सर्दी आदि शारीरिक कष्ट स्वेच्छा पूर्वक सहन करता है।

हमने सुना कि फलां बाबा एक टांग पर खड़े होकर पिछले दो साल से तपस्या कर रहे हैं तो हमारे मन में बड़ी श्रद्धा जाग जाती है- इन्हें तो भगवान के दर्शन जरूर हुए होंगे और हम स्वयं उनके दर्शन के लिए उत्सुक हो जाते हैं। लेकिन तपस्या हमेशा ईश्वर प्राप्ति के लिए नहीं की जाती। सांसारिक सिद्धियों को प्राप्त करने के लिए लोग तपस्या करते हैं- हाथ मलते ही भभूत निकाल ले, भक्त को फूल दें तो सिक्का बन जाए, दुश्मन का नाश हो जाए, इत्यादि लक्ष्य से भी लोग कठोर तप करते हैं। अतः भगवान तपस्वी और योगी को भिन्न मानते हैं और तपस्वी से श्रेष्ठ योगी को बतला रहे हैं जो अपने आत्मस्वरूप का ध्यान कर उसे जानने का प्रयत्न करता है।

परीक्षा के कुछ दिन पहले विद्यार्थी पिक्चर देखना, क्लब जाना छोड़ देता है। ऐसा इसलिए नहीं कि वह चौबीसों घंटे पढ़ता ही रहता है तीन घंटे के लिए भी पढ़ाई छोड़ता ही नहीं। पिक्चर देखने से केवल उतना ही समय नष्ट नहीं होता उसके आगे पीछे भी हमारा मन उन बातों में उलझा रहता है और पढ़ने में एकाग्रता नहीं आती। इस प्रकार सिनेमा न देखना एक प्रकार का तप हुआ किन्तु हम केवल सिनेमा न देखने का ही तप करते रहें और अपना मन पढ़ने में न लगाएं तो कुछ लाभ नहीं होगा। इस प्रकार शारीरिक सुखों का त्याग बड़ी उपलब्धि अवश्य है, हर कोई त्याग नहीं कर सकता लेकिन इससे भी महान है त्याग से बचाई गई मानसिक और बौद्धिक शक्ति को ब्रह्म के ध्यान में लगाना। अतः कोरे तपस्वी से योगी को श्रेष्ठ बताया गया है।

इसी प्रकार ज्ञानी का यहां अर्थ है पढ़े लिखे विद्वान जो शास्त्रों को जानते हैं, उनके विषय में विवेचना करते हैं। ज्ञान योग क्या है, भक्ति योग क्या है, हिन्दू धर्म, इस्लाम धर्म, ईसाई धर्म तक सभी का उन्हें ज्ञान है। वे दार्शनिक कहलाते हैं। हर युनिवर्सिटी में सैकड़ों छात्र दर्शन शास्त्र में बी.ए. एम.ए., पी.एच.डी. करके हर साल निकलते हैं। उन्हें ज्ञान बहुत होता है, किन्तु उसका जीवन सामान्य ही होता है। वे भी ऐसे कालेज में सर्विस ढूंढते हैं जहां वेतन अधिक से अधिक मिले क्लास कम से कम करनी पड़े।

वस्तुतः ज्ञान पाना और उसे जीवन में उतारना दो बिलकुल ही भिन्न बात है। हम भूल करते हैं जब उन्हें एक समझते हैं। हम सोचते हैं- अमुक व्यक्ति को गीता का बहुत ज्ञान है कितना अच्छा प्रवचन भी करता है, वह तो बहुत महान है लेकिन बहुधा ऐसा होता नहीं। उसके व्यक्तित्व जीवन में झांकने पर हम निराश हो जाते हैं- देखो, हमने तो समझा था बहुत पहुंचा हुआ व्यक्ति है किन्तु पूजा पाठ करने वाले हों या भजन कीर्तन करने वाले अथवा व्याख्यान देने वाले या सुनने वाले हों, यह आवश्यक नहीं कि उनका जीवन उच्च हो जाय। कीर्तन सत्संग के तुरंत बाद चाय नमकीन के साथ निंदा रस का आस्वादन करने वाले बहुत अधिक संख्या में मिल जाएंगे। सत्संग में सुनी बात को जीवन में उतारने का संकल्प आना और फिर उसके लिए बहुत प्रयास करना, यह बहुत ही कम होता है। इसके लिए श्रद्धा, विवेक, वैराग्य आदि के साथ घोर संघर्ष करना पड़ता है जो हजारों लाखों ज्ञानियों में कोई एक आध ही कर पाता है। भगवान यह नहीं कहते कि ज्ञान तुच्छ है पर वे कहते हैं कि ज्ञानी से अधिक श्रेष्ठ योगी है जो ज्ञान को जीवन में उतारता है।

इसी प्रकार कर्मशील व्यक्ति से भी श्रेष्ठ भगवान योगी को बता रहे हैं। कुछ व्यक्ति कर्म को ही पूजा समझते हैं। वे रात दिन कर्म में जुटे रहते हैं। निस्संदेह वे महान हैं किन्तु कर्म करते जाना ही मानव जीवन का परम लक्ष्य नहीं। कर्म करते-करते कर्म फल और संसार से उपरामता आए और फिर ध्यान योग का अभ्यास हो तभी परमात्मा की प्राप्ति होती है। ज्ञान, कर्म, तप इत्यादि तो मन बुद्धि को योग्यता प्रदान करते हैं, उसे योगारूढ़ बनाते हैं। योगारूढ़ बनने के बाद तो शांति ही साधन है (योगारूढस्य तस्यैव शमः कारण उच्यते) भगवान पहले ही बता चुके हैं।

इसी प्रकार भगवान कहते हैं कि इन तीनों से श्रेष्ठ ध्यान करने वाला योगी है क्योंकि इन तीनों से एकदम आगे बढ़ चुका है अतः अपना मत व्यक्त करते हुए वे अपने परम मित्र अर्जुन को योगी बनने की सलाह देते हैं:-

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ।।४७।।

सारे योगियों में भी मेरे मत में सर्वश्रेष्ठ योगी वह है जो श्रद्धा के साथ मन को मुझमें तल्लीन कर मुझे भजता है।

पिछले श्लोक में भगवान ने बताया कि तपस्या करने वाले, ज्ञानार्जन करने वाले, कर्म करने वाले, सब महान हैं लेकिन महानतम वह है जो ज्ञान को जीवन में धारण कर परमात्मा की प्राप्ति के उपाय करता है, जो संसारिक सिद्धि के लिए तप करता है, जो सांसारिक लाभ के लिए नहीं बल्कि चित्त को शुद्ध कर (योगारूढ़ होने) उसे ध्यान में लगाने के लिए कर्म करता है तात्पर्य यह है कि योगी अनेक प्रकार के हो सकते हैं, ज्ञान के माध्यम से साधना करने वाला ज्ञानयोगी, तप के माध्यम से साधना करने वाला हठयोगी, कर्म के माध्यम से साधना करने वाला कर्मयोगी। भगवान ने यह तो बता दिया कि अर्जुन तू योगी बन लेकिन नाना प्रकार के योगियों में भी भगवान की नजरों में सर्वश्रेष्ठ योगी कौन है? इसका उत्तर भगवान ने इस श्लोक में दिया है।

ज्ञान, ध्यान, कर्म, आदि के बारे में तो भगवान अब तक के छः अध्यायों में बता ही चुके हैं और हम देखते हैं कि हर अध्याय के अन्त में नई बात छेड़ देना उनकी विशेष शैली रही है। यहां भी वे नई बात छेड़ रहे हैं भक्ति की। वे कह रहे हैं कि सम्पूर्ण योगियों में भी श्रद्धा के साथ मुझमें आत्मा का विलय करने वाला योगी अर्थात् भक्त सर्वश्रेष्ठ है।

यहां तीन शब्दों पर ध्यान देने की आवश्यकता हैं- मुझे, श्रद्धा, आत्मा का विलय करके भजना। 'मुझे' का अर्थ यह कदापि नहीं समझ लेना चाहिए कि कृष्ण भगवान की मूर्ति के सामने बैठ कर भजन करने वाला ही

भगवान कृष्ण के मत में सर्वश्रेष्ठ हैं। ध्यान दें कि गीता में उनकी वाणी के लिए कहीं भी कृष्ण उवाच का प्रयोग नहीं किया गया है, श्री भगवानुवाच कहा गया है। यह सारा उपदेश मानव रूप धारी देवकी वसुदेव के पुत्र कृष्ण ने नहीं दिया बल्कि परमात्मस्वरूप कृष्ण ने दिया है। अत: 'मुझमें' मन लगाने का तात्पर्य उस परमात्मा के ध्यान में मन को एकाग्र करना है जो आत्म रूप में सृष्टि के सभी प्राणियों में समान रूप से व्याप्त है और सभी को चेतना प्रदान करता है। विभिन्न रूप तो हमने अपनी भावना के अनुसार दे रखे हैं। किसी को शिव का रूप दिया है, किसी को राम का, किसी को कृष्ण का। तत्व रूप से कृष्ण राम या शिव से बिल्कुल भी भिन्न नहीं है। हमें भी यह भिन्नता नहीं समझनी चाहिए। वैष्णव हों या शैव अथवा शाक्त, सभी अपनी श्रद्धा के अनुसार एक ही परमात्मा को भज रहे हैं यह बात दृढ़ता के साथ धारण करें।

श्रद्धा का अर्थ अंधविश्वास नहीं बल्कि ऐसा दृढ़ विश्वास है जो ज्ञान पर आधारित हो, डगमगाए नहीं। कोई भी नया कार्य करने के लिए, नई वस्तु पाने के लिए श्रद्धा तो परम आवश्यक है। रास्ता बताने वाले के वचनों पर श्रद्धा कर ही हम दाएं या बाएं मुड़ते हैं। यह श्रद्धा न हो तो हम संशय ही करते रह जाएंगे तो कभी भी अपने अनजान गंतव्य तक नहीं पहुंच सकते। फिर परमात्मा प्राप्ति का लक्ष्य तो परम लक्ष्य है और वह ऐसा जिसे इन्द्रिय मन बुद्धि द्वारा समझा समझाया या प्रमाणित किया ही नहीं जा सकता अत: इसके लिए श्रद्धा की कितनी आवश्कता होगी यह हम सहज ही समझ सकते हैं। और फिर भक्ति योग तो विशेष रुप से मन प्रधान है। मन श्रद्धा से संचालित होता है जैसे बुद्धि ज्ञान से संचालित होती है।

तीसरी बात है आत्मा का विलय करके भजना। भगवान ने मजीरे खड़ताल के साथ भजना नहीं कहा, मधुर स्वर में भजना नहीं कहा, सुन्दर पदावली गाकर भजना नहीं कहा बल्कि मन को उसमें रमाकर भजना कहा है। इससे स्पष्ट है कि भगवान के भजन का अर्थ वह नहीं है जिसे हम साधारण भजन कीर्तन समझते हैं। वह तुच्छ नहीं है, उनके द्वारा भी मन को भगवान में रमाने में सहायता मिलती है लेकिन भक्ति के लिए वही भजन यथेष्ट नहीं। मुख्य बात मन का भगवान में रमना है।

मैं भगवान का हूं और भगवान मेरे हैं, इस प्रकार विलय जब हो जाता है, इस प्रकार का अपनापन जब आ जाता है तो भक्त का मन स्वाभाविक ही उनमें रम जाता है, उसे बलपूर्वक लगाना नहीं पड़ता। खाते पीते, उठते बैठते, सोते जागते मन सहज रूप से प्रभु चिंतन करता है। संसार के काम करते करते भी वह प्रभु की ओर भागता रहता है। जैसे बच्चे को पालने में झुलाकर रसोई बनाती मां का चित्त बार-बार बच्चे को ही याद करता रहता है, उसे उसके लिए प्रयास नहीं करना पड़ता। उसे तो ऐसे लगता रहता है कि कब रसोई का कार्य सुलट जाए तो उसे गोद में लूं। इसी प्रकार अपने सांसारिक दायित्वों के प्रति भी हमारा भाव बन जाए कि इन्हें तो हमें करना ही है इस लिए कर रहे हैं। इनसे निवृत्ति पाकर अपने प्रभु के साथ खेलने की उत्कट अभिलाषा मन में जाग जाए तो सब कुछ करते हुए भी हम संसार से बंध नहीं सकते, उसमें रम नहीं सकते। रमण तो हमारा हृदय कन्हैया की वंशी की तान में ही करेगा। ऐसी स्थिति में साधन भजन, जप, कीर्तन हो या खाना पीना चलना फिरना आदि शारीरिक क्रियाएं अथवा व्यापार नौकरी आदि जीविका संबन्धी क्रियाएं, ये सभी भजन हो जाती हैं।

अब तो हम सरलता से समझ सकते हैं कि ऐसे व्यक्ति के लिए भगवान ने 'युक्ततमो मतः' शब्द का प्रयोग क्यों किया है जिसका मन श्रद्धा के साथ निरंतर उनमें रमा है उसका तो प्रतिक्षण उनके साथ सहज योग है। इससे ऊंची स्थिति क्या हो सकती है?

भक्ति रस की विशद् विवेचना करते हुए भगवान बारहवें अध्याय में सम्पूर्णता के साथ इसकी उत्कृष्टता की बात बताएंगे यहां तो उन्होंने अर्जुन की उत्सुकता जगाने के लिए विषय को छू भर दिया है।

आत्मसंयम अर्थात् मन का संयमन करने से ध्यान करने वाले को योग (समता) का अनुभव हो जाता है अतः इस अध्याय का नाम 'आत्म संयम योग' रखा गया है। साधारणतया इसे 'ध्यान योग' भी कह देते हैं।

इस प्रकार श्रीकृष्ण अर्जुन संवाद में आत्मसंयम योग नामक
छठा अध्याय पूर्ण हुआ।
ॐ तत् सत्